आचार्यश्री तुलसी : जीवन और दर्शन

लेखक

मुनिश्री नथमलजी

सम्पादक

मुनिश्री सुमेरमलजी 'सुदर्शन'

मुनिश्री श्रीचंदजी 'कमल'

आत्माराम एण्ड संस

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

काश्मीरी गेट,

दिल्ली-6

ACHARYA SHRI TULSI JEEWAN AUR DARSHAN

by

Muni Shri Nathmaljee

Rs 5 00

COPYRIGHT © ATMA RAM & SONS, DELHI-6

श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा कलकत्ता के सौजन्य में

प्रकाशक	रामलाल पुरी, संचालक आत्माराम एण्ड काश्मीरी गेट, दिल्ली-6
शाखाएँ	हौज खास, नई दिल्ली माई हीरा गेट, जालन्धर चौड़ा रास्ता, जयपुर बेगमपुल रोड, मेरठ विश्वविद्यालय क्षेत्र, चण्डीगढ़
मूल्य	पांच रुपए
संस्करण	प्रथम 1962

मुद्रक
एवरेस्ट प्रेस
४, चमेलियान रोड
-६

अपनी ओर से

शब्द एक होता है, उसके अर्थ अनेक। जीवन एक होता है, उसके अर्थ अनेक। जितने दर्शक, उतने ही अर्थ। एक व्यक्ति उसे सबो की दृष्टि से देखे, यह कभी नही होता। मैं भी इस परिधि से बाहर नही हूँ, मैंने आचार्यश्री को अपनी दृष्टि से देखा है। दूसरो की दृष्टि से उसमे विपर्यय भी हो सकता है। मैं न उनका सवाद चाहता हूँ और न प्रतिवाद। मुझे अपने मे सतोष है। मैं मानता हूँ कि मैंने आचार्यश्री की देन का अतिक्रमण नही किया है। श्रद्धा भी उन्ही से मिली है और तर्क भी उन्ही से मिला है। वे दोनो मे विश्वास करते हैं। मैं आचार्यश्री को केवल श्रद्धा की दृष्टि से देखता तो उनकी जीवन गाथा के पृष्ठ दस से अधिक नही होते। उनमे मेरी भावना का व्यायाम पूर्ण हो जाता। आचार्यश्री को मैं केवल तर्क की दृष्टि से देखता तो उनकी जीवन गाथा सुदीर्घ हो जाती, पर उसमे चैतन्य नही होता। श्रद्धा मे विस्तार नही होता पर चैतन्य होता है। तर्क मे विस्तार होता है पर चैतन्य नही होता। आचार्य श्री के जीवन मे विस्तार की अपेक्षा चैतन्य अधिक है। पर मैंने यह आचार्य श्री के लिए नही लिखी है। जनसाधारण के जीवन मे चैतन्य की अपेक्षा विस्तार अधिक होता है। मैंने यह उन्ही के लिए नही लिखी है। मेरी अपनी श्रद्धा का भी प्रश्न है। इसलिए इसमे विस्तार भी है, चैतन्य भी है।

आचार्यश्री विस्तार की अपेक्षा चैतन्य को अधिक पसद करते हैं, अक वृद्धि की अपेक्षा सत की मात्रा को अधिक महत्त्व देते हैं। मैंने उन्ही की रुचि का सम्मान किया है। इसीलिए जीवन गाथा को बहुत थोडे मे गूथा है। उन्होने किया बहुत है। बहुत सघर्ष झेले हैं, चरित्र-विकास के लिए बहुत यत्न किया है, बहुत परिव्रजन किया है, बहुत चिन्तन किया हैं और बहुत कार्य। इन सारे बहुत्वो का विस्तार भी बहुत हो सकता है। पर मैं सर्वोपरि बहुत्व चैतन्य मे देखता हूँ। इसीलिए मैंने शाब्दिक अल्पत्व मे सतोष माना है। मुझे परितोष है कि धवल समारोह की पुण्य वेला मे मैं आचार्यश्री को अपनी विनम्र श्रद्धाजलि समर्पित करने का अवसर प्राप्त कर सका।

आचार्यश्री ने मुझे जो दिया वह बहुत ही गुरु है। उसकी तुलना मे मेरा प्रयत्न बहुत ही लघु है। पर कही-कहीं लघु गुरु से अधिक प्रिय होता है। मैं मानता हूँ मेरी यह लघुतम श्रद्धाजलि जनता को गुरु से कम प्रिय नही होगी। गुरु मे लघु का समावेश कभी आश्चर्यजनक नही होता पर लघु मे गुरु का समावेश अवश्य आश्चर्यजनक होता है।

मेरी व्यस्तता को मुनि श्री सुमेरमलजी 'सुदर्शन' और श्रीचदजी 'कमल' ने बहुत कम किया है। इसके लिप्यन्तर को व्यवस्थित करने व सूचि आदि तैयार करने

में बहुत श्रम किया है। मैं उनका आभारी हूँ। सबसे अधिक आभारी हूँ आचार्यश्री की डायरी का। सामग्री संकलन में उससे जितनी सहायता मिली उतनी अन्य किसी स्रोत से नहीं मिली। आचार्यश्री ने अपने व्यक्तिगत डायरी पढ़ने की मुझे स्वीकृति दी उसके लिए उनका बहुत आभार मानना चाहिए। पर उनका आभार मानने की विधि से मैं सर्वथा अपरिचित हूँ।

वि० सं० २०१८
भाद्रव शुक्ला १३
भिक्षुचरमोत्सव
बीदासर

—मुनि नथमल

अनुक्रम

अध्याय पृष्ठ

अध्याय पृष्ठ

विषय-प्रवेश

प्रिय वस्तु मिलने पर मनुष्य प्रसन्न बने, यह उसका स्वभाव है, पर जीवन की कला नही। अप्रिय का योग मिलने पर वह अप्रसन्न बन जाये, यह भी मनुष्य का स्वभाव है, पर जीवन की कला नही। जीवन की कला क्या है ? यह प्रश्न चिरन्तन-काल से चर्चा जाता रहा है। इसका समाधान न तर्क के बाण दे सके, न बुद्धिवाद की नुकीली धार दे सकी, न शास्त्र दे सके और न शास्त्रो का मन्थन करने वाले पण्डित दे सके।

इसका समाधान उन व्यक्तियो के जीवन मे से मिला, जिनके तर्क-बाण ने अपने आप को बीधा, बुद्धिवाद की नुकीली धार से अपनी शल्य चिकित्सा की, अपनी आत्मा को शास्त्र बनाया और अपनी आत्मा के आलोक मे शास्त्रो को पढा। आचार्यश्री तुलसी उन्ही व्यक्तियो मे से एक है।

उनका जीवन आलोक है। जो आलोक होता है, वही दूसरे को आलोकित कर सकता है। जो स्वय आलोकित न हो, उसमे दूसरे आलोक नही पा सकते। आचार्यश्री अपने जीवन के पृष्ठो को जितनी तन्मयता से पढते हैं, उतनी लगन से शब्द-शास्त्र को नही पढते। इसलिए उनकी अनुभूतियो मे उनके पाडित्य से अधिक तीव्रता है।

मैं शब्द-शास्त्र का अध्येता हूँ। शब्दो के प्रति मेरी ममता है, इसलिए मैंने आचार्यश्री के व्यक्तित्व को शब्दो मे प्रतिबिम्बित करने की बात सोची है।

मैं नही कह सकता कि शब्दो की मेरे प्रति कितनी ममता है ? वे मेरी भावनाओ का कितना समादर करेंगे ? और अपने स्फटिक स्वभाव को कितना विशद बनाये रखेंगे ? इस विश्व के रग-मच पर ऐसा कोई व्यक्ति नही होता, जिसके जीवन मे तारतम्य न हो। जिसे उदय और अनुदय का अनुभव न हो। जिसने सुख और दु ख का स्पर्श न किया हो, जिसमे प्रकाश और अन्धकार, सत् और असत्, मृत्यु और अमृतत्व, पराक्रम और मन्दता का मिलन न हो। मैं आचार्यश्री को उदय और प्रकाश की भूमिका मे रखकर ही प्रस्तुत करू तो वह मेरे शिष्यत्व के प्रति न्याय हो सकता है, किन्तु उनके व्यक्तित्व के प्रति न्याय नही होगा। यदि मैं उन्हे अनुदय और अन्धकार की भूमिका मे रखकर प्रस्तुत करू तो वह उनके आलोचको के प्रति न्याय हो सकता है, किन्तु कोटि-कोटि जनता के प्रति वह न्याय नही होगा। मेरे पाठक मेरी गति को स्वय देख लेंगे कि मैं कितनी सकरी पगडडी पर चल रहा हूँ।

तब और अब

दिल्ली मे अणुव्रत-आन्दोलन का पहला अधिवेशन हुआ ? समाचार-पत्रो ने नैतिक क्रान्ति की चर्चा की, तब जनता के मन मे जिज्ञासा उभरी। स्थान-स्थान से

पूछा गया—आचार्यश्री तुलसी कौन हैं ? कहां है ? उनका आगे का कार्यक्रम क्या है ? उन्हें बताया गया। आचार्यश्री तुलसी जैन धर्म के आचार्य है, अभी दिल्ली में हैं और वे नैतिक विकास के लिए अणुव्रत-आन्दोलन द्वारा जनता को नैतिक बनाना चाहते हैं। यह तब की बात है, जब आचार्यश्री जनता के और जनता आचार्यश्री के सम्पर्क में नहीं थी।

अब आचार्यश्री जनता से और जनता आचार्यश्री से अपरिचित नहीं है। अपरिचित को परिचित कराना जितना कठिन नहीं है, उतना कठिन है परिचित को परिचित कराना।

आचार्यश्री का व्यक्तित्व कुछेक रेखाओं से निर्मित है, पर वे बहुत ही स्फुट है। उन्हें श्लाघा के रंग में रंगने की कोई आवश्यकता नहीं है। वास्तव में वे जो है, उसका लेखा अनुभूति में है, शब्दों में नहीं। फिर भी दृश्य-लोक शब्दों से मुक्ति नहीं पा सकता। इसीलिए हम बहुधा महान् को लघु में बांधने का यत्न करते हैं। आचार्यश्री को परिचित कराने का प्रयत्न भी वैसा है।

अन्तर-जगत् में आचार्य श्री आत्मवान् है। आत्मा को समाहित कर वे आत्मवान् बने हैं। जो आत्मवान् होता है, वही दूसरों का हृदय छू सकता है। आचार्यश्री ने जन-जन का मानस छुआ है, उसका रहस्य यही है। शब्दों की दुनिया में आपका परिचय है—"आपकी जन्म-भूमि लाडनूं (राजस्थान) है। वह राजस्थान जो शुष्क और ग्रीष्म प्रधान होने के उपरान्त भी आध्यात्मिक स्रोतों की सिंचाई से हरा-भरा है। आपका जन्म बीसवीं शताब्दी वि० सं० १९७१ कार्तिक शुक्ला २ में हुआ। अपने पूर्वजों को अल्प विकसित और अल्प संस्कृत मानना, उस शताब्दी की सबसे बड़ी विशेषता है। आचार्यश्री तब जन्मे, जब हिंसा से अहिंसा, घृणा से मनुष्यता, स्वार्थ से दया और साम्प्रदायिकता से विराटता दबी जा रही थी। आचार्यश्री तब जन्मे, जब जनतंत्र एकतंत्र को पछाड़ रहा था। आचार्यश्री तब जन्मे, जब जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जीवन के शाश्वत मूल्यों पर आवरण डाला जा रहा था। आचार्यश्री तब जन्मे, जब राजनीति के कटघरे में जन-जीवन बंदी बन रहा था। आचार्यश्री तब जन्मे, जब दूसरों को सुधारने वाले अपने सुधार की उपेक्षा कर रहे थे।

आप ११ वर्ष की अवस्था में जैन-मुनि बने। २२ वर्ष की अवस्था में पूज्य कालूगणी ने तेरापंथ के आचार्य-पद का भार सौंपा। ३४ वर्ष की अवस्था में अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन किया। अभी ४७ वर्ष की अवस्था में है।

गौर वर्ण, मंझला कद, भव्य ललाट, तेजस्वी और दीर्घ आंखें, प्रलम्ब-कान, यह है उनका प्रथम दर्शन में ही आकृष्ट करने वाला दृश्य व्यक्तित्व।

प्रसन्न मन, सहज-ऋजुता, सब के प्रति समभाव, आत्मीयता की तीव्र अनुभूति, विशाल-चिन्तन, विरोधी के प्रति अनुद्विग्न, जातीय, प्रान्तीय, साम्प्रदायिक और भाषाई विवादों से मुक्त—यह है उनका महान् व्यक्तित्व; जो अदृश्य होकर भी समय-समय पर दृश्य बन जाता है।'

आचार्यश्री ने धर्म के शाश्वत सत्यों से युग को प्रभावित किया है, इसलिए वे

युगधर्म के व्याख्याता हैं।

अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन कर उन्होंने नैतिक क्रान्ति का नेतृत्व किया है, इसलिए वे युगपुरुष हैं।

वे सघर्षो की दीवारो को तोड-तोड आगे बढे है, इसलिए वे प्रगतिशील हैं।

कठोर-चर्या, भूख और प्यास मे अविचलित रहकर वे गाव-गाव मे घूम रहे हैं। १६ हजार मील का पाद-विहार कर चुके हैं। इसलिए वे महान् परिव्राजक है।

सब वर्ग के लोगो ने उन्हे सुना है, समझने का यत्न किया है। वे सबके होकर ही सबके पास पहुँचे हैं, इसलिए वे विशाल-दृष्टि है।

अध्ययन, अध्यापन, स्वाध्याय और साहित्य-निर्माण, ये उनकी सहज-प्रवृत्तिया हैं, इसलिए वे जगम विद्या-पीठ है। उन्होंने अनेकान्त का हृदय छुआ है, इसलिए वे ध्रुव और परिवर्तन की मर्यादा के मर्मज्ञ हैं।

अनेक मानवीय अल्पताओ के होते हुए भी वे महान् हैं। उनकी गति महान् लक्ष्य की ओर है। वे अपने को सिद्ध नही मानते हैं। साध्य के प्रति अनुराग है। साधना के प्रति आस्था है और सिद्धि मे विश्वास है। आस्था ने ही उन्हे बनाया है। उनकी जीवन-कहानी आस्था की ही कहानी है।

एक स्वप्न

२००५ (वि० स०) की बात है, आचार्यश्री छापर मे चातुर्मास बिता रहे थे। छापर बीकानेर डिवीजन का एक कस्बा है। वहा आस-पास में समुद्र नही हैं। बालू के टीले बहुत हैं। उनमे उर्मियो की रेखाए इस प्रकार हैं, जैसे कभी यहा पर समुद्र रहा हो। उर्मिया समुद्र में ही हो, यह कोई नियम नही है। मनुष्य के मन मे भी उर्मिया होती हैं। जहा गहराई होती है, गति होती है, स्पन्दन होता है, वहा उर्मिया हो ही जाती हैं।

उस समय आचार्यश्री का मानस उर्मियो मे भरा था। प्रत्यक्षदर्शी को लगता यह क्या है ? क्या धर्माचार्य जो होते हैं, वे इस प्रकार सपने ही सजोया करते हैं या यथार्थता को भी पहिचानने का प्रयत्न किया करते हैं ? मैं उनका प्रिय शिष्य रहा हूँ और समय-समय पर उनकी गहराई को नापने का यत्न करता रहा हूँ। पर उस समय उनकी गहराई को नापने मे विफल रहा, यह कहने मे मुझे तनिक भी सकोच नही होता। यदा-कदा प्रस्फुटित होने वाली आचार्यश्री की कल्पनाओ को सुन मुझे अचरज होता। मैं मन-ही-मन प्रश्न करता कि इन आधारहीन कल्पनाओ का मूल्य क्या है ? मुझे भली-भाति ज्ञात है, उस समय इस प्रश्न मे मैं अकेला ही आन्दोलित नही था।

यात्रा से पूर्व

२००६ का चातुर्मास जयपुर मे था। इससे पूर्व बारह वर्ष तक आचार्यश्री का विहार केवल बीकानेर डिवीजन मे हुआ। इसका कारण वही मान्यता है—पहले व्यक्ति को स्वय उदित होना चाहिये और पीछे दूसरो के उदय की चर्चा करनी चाहिये। आचार्यश्री आज जो हैं, पहले वह नही थे। उनका शिष्य-समुदाय आज जो है, पहले

वह नहीं था। आचार की बात मैं छोड़ देता हूँ। विचार की दृष्टि से इन बारह वर्षों में कल्पनातीत विकास हुआ है।

उस समय जयपुर का विहार एक विदेश यात्रा जैसा लगता था। आचार्यश्री कलकत्ता और बम्बई की यात्रा करेंगे, ऐसी कल्पना करना भी बड़े साहस की बात थी।

जयपुर विहार आचार्यश्री के व्यक्तित्व का पहला स्फुलिंग, विचार क्रान्ति की पहली किरण और-धर्म क्रान्ति का पहला चरण था।

नये-नये व्यक्ति सम्पर्क में आये। विचार सुने। प्रश्न पूछा—"इतने दिन आप कहां थे ?" आचार्यश्री ने विनोद की मुद्रा में उत्तर दिया—"मुझे जहां होना चाहिये, वहीं था।"

आचार्यश्री का बीकानेर डिवीजन का प्रवास दूसरे लोगों के लिए ईर्ष्या की वस्तु बन गया था। कुछ लोग भक्ति के आवेश में कह दिया करते—"आपको बीकानेर राज्य से मोह हो गया है।"

आचार्यश्री उनके आवेश को मधुर-स्मित में परिणत कर देते। एक बार जयपुर की जनता प्रार्थना कर रही थी। साधुओं ने भी उसमें योग दिया। तब आचार्यश्री ने जो कहा वह उनके भावी कार्यक्रम की रूप-रेखा थी। आचार्यश्री ने कहा—"तुम लोग वस्तु-स्थिति को नहीं आंकते। मैं यहां जो हूँ इसका अर्थ इस प्रदेश से मोह नहीं है। मैं दूसरे प्रदेश के लोगों की उत्कण्ठा को भी समझता हूँ। किन्तु मुझे जो करना था, वह मैं यहीं रहकर कर सका हूँ। इस बारह-वर्षीय प्रवास को मैं सुदूर-प्रवास की पृष्ठ-भूमि मानता हूँ। मेरे मन में अध्यात्म के प्रसार की तीव्र भावना है। उसके लिए मैं स्वयं समर्थ बनूं और मेरा शिष्य-समुदाय भी समर्थ बने, यह मेरा लक्ष्य था। मैं उसमें सफल हुआ हूँ।"

●

: १ :

संघर्ष की वेदी पर

सन्तुलन

"मैं जहा जाता हूँ वहा तराजू के दोनो पलडे बरावर रहते है। स्वागत भी बहुत होता है और विरोध भी बहुत होता है। स्वागत-ही-स्वागत हो तो सभव है, अह-भाव बढ जाये। विरोध-ही-विरोध हो तो सभव है हीन-भावना आ जाये। स्वागत कार्य की सही दिशा की सूचना देता है और विरोध आत्म-चिन्तन का अवसर देता है। दोनो मिल स्थिति को सन्तुलित बनाये रखते है।" आचार्यश्री के ये उद्गार शाश्वत सत्य जैसे हैं।

आचार्यश्री पहली बार दिल्ली गये। तब मिश्रित स्वागत हुआ। अणुव्रत-आन्दोलन का स्वागत हुआ, तेरापथ की विचारधारा का कुछ विरोध हुआ। स्वागत किया जन-साधारण ने और विरोध किया कुछेक जैनो ने। समाचार-पत्रो ने आचार्यश्री को नैतिक आन्दोलन के प्रवर्तक के रूप मे स्थान दिया तो बाल-दीक्षा के कट्टर समर्थक इस विशेषण को भी उनके साथ जोडा। इस प्रकार स्थिति-पालक और प्रगतिशील इन दो रूपो मे आचार्यश्री का व्यक्तित्व आका गया।

संघर्षों की पृष्ठ-भूमि

उदय की तैयारी अदृश्य होती है। इसलिए वह जनता की दृष्टि मे अनुदय होता है। उसका परिणाम दृश्य होता है। इसलिए लोग उसे उदय मानते है। उदय तपस्या की बलि चाहता है—

विना जले कब दीपक की लौ करती अरे प्रकाश
विना जले कब अगरवर्तिका देती अरे सुवास।

आचार्यश्री का उदय सघर्षों की वेदी पर हुआ है। उनकी गति ने कसौटी पर चलते-चलते प्रगति का रूप लिया है।

सघर्ष दो प्रकार के होते हैं—आन्तरिक और बाह्य। आन्तरिक सघर्ष उस समय तक अकुरित नही हुआ था। बाहरी सघर्ष तेरापथ आचार्य के लिए कोई नई बात नही है। उसे झेलने की क्षमता भी उन्हे परम्परा से प्राप्त है।

आचार्यश्री कोई सघर्ष मोल लेना नही चाहते थे। उसमे शक्ति खपे, यह उन्हे इष्ट नही था।

उनके कार्यक्रम का एक सूत्र था—धार्मिक सहिष्णुता। उसका प्रभाव जन-मन पर सहसा अंकित हो गया। जैनो के दिगम्बर व श्वेताम्बर सम्प्रदायों के प्रमुख व्यक्तियो के साथ गहरा सम्बन्ध हो गया। सम्प्रदायो की कृत्रिम दूरी मिट रही है, ऐसा लगने लगा।

सच्चाई किसी पर भी अनुग्रह नही करती। यह सच्चाई है कि अगली पीढी परिवर्तन न करने पर संघर्ष करती है और वर्तमान पीढी परिवर्तन करने पर संघर्ष करती है। आचार्यश्री ने बारह वर्षों तक कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नही किया था, उस समय कुछ युवक संघर्ष कर रहे थे। अब परिवर्तन होने लगा तो बूढे लोग संघर्ष करने लगे।

विशाल दृष्टिकोण

आत्म-निर्माण सप्ताह मनाया गया।[1] उसमे दूसरे धर्म के विद्वानो के वक्तव्य रखे गये। आचार्यश्री की उपस्थिति मे दूसरो के वक्तव्य सुनें, यह हमारे श्रावकों के लिए नया अनुभव था। वे उसे पचा नही सके। कुछ विरोध हुआ।

आचार्यश्री ने उन्हे समझाया—"हम केवल सुनाए ही नही, दूसरो को सुनें भी। देना चाहे तो लें भी। दूसरो के विचार सुनने से डरे क्यो? क्या हम इतने दुर्बल हैं कि जो दूसरा विचार सुन हमारी आस्था डिग जाए? यदि वह इतनी अपरिपक्व है तो किस काम की? धार्मिक को सहिष्णु होना चाहिये। उसमे धैर्य होना चाहिये। दूसरो के विचारों को सुनने की क्षमता होनी चाहिये।" ये विचार कुछ लोगो को रुचे, कुछ को नही रुचे।

अणुव्रत-आन्दोलन

इससे पूर्व[2] आचार्यश्री अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन कर चुके थे। उसका द्वार अहिंसा मे विश्वास करने वाले सभी धर्म, वर्ण, जाति और रग के लोगो के लिए खुला रखा था। यह भी एक प्रश्न बन गया। लोगो ने कहा—आचार्यश्री जैन, जैनेतर, सम्यग्-दृष्टि और मिथ्या-दृष्टि—सभी व्यक्तियो को एक आसन पर बिठाने का प्रयत्न कर रहे हैं। यह नही होना चाहिये।

आचार्यश्री ने उन्हें समझाया—"धर्म किसी की पैतृक सम्पत्ति नही है। चरित्र प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है। प्रत्येक व्यक्ति उसकी आराधना का अधिकारी है। सम्यग्-दृष्टि कौन है, कौन नही? यह पहचान बहुत कठिन है। भगवान् महावीर मे मेरी दृढ आस्था है।

भगवान् ने अहिंसा धर्म उन सबके लिए कहा है—जो धर्म का आचरण करने

---

१ २००६ जयपुर, भाद्रव शुक्ला ६ से १५।

२. वि० स० २००५ फाल्गुन शु० २, सरदार शहर (बीकानेर डिवीजन)।

के लिए उठे हैं या नही उठे हैं, जो धर्म सुनना चाहते है या नही चाहते, जो जीव हिंसा से विरत हैं या नही है, जो परिग्रह मे लिप्त है या नही है, जो सयोग ने बधे हुए है या नही हैं—उन सबके लिए भगवान् ने धर्म कहा है।[1]

"मैंने जनता के चरित्र विकास के लिए जो व्यापक चरण उठाया है, वह मेरी आस्था का प्रतिविम्ब है और हमारी परम्परा के अनुरूप है।" कुछ व्यक्तियो ने इस उत्तर मे गम्भीर तत्त्व का दर्शन किया तो कुछक ने इनमे कोरा वाक्-चातुर्य देखा।

पारमार्थिक शिक्षण संस्था

पारमार्थिक शिक्षण सस्था भी उन दिनो चर्चा का विषय बन चुकी थी। पहले दीक्षार्थी का परीक्षा-काल ऐसे ही बीत जाता। उसके लिए साधना या अध्ययन की कोई व्यवस्था नही थी। अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तन के साथ-साथ तेरापथी महासभा ने इस सस्था की स्थापना की।[2] साधना के नियम साधुओ ने सुझाये। शिक्षण की व्यवस्था महासभा ने की। यह भी नया कार्य था, इसलिए आलोच्य बन गया। आलोचना उसकी होती है जो पहले न हो और पीछे हो जाये। आलोचना उसकी होती है जो पहले हो और पीछे मिट जाये। आलोचना का साधारण रूप यही है। गुण-दोष की समीक्षा के बाद आलोचना हो, यह रूप बहुत कम बार दृश्य होता है।

संघर्ष की स्थिति का परिपाक

जयपुर मे एक विशाल पण्डाल बनाया गया। उसमे बिजली का प्रयोग किया गया। जो दूसरे वक्ता आते उनके लिए ध्वनिवर्धक की व्यवस्था की गई। कुछ प्रकाशन कार्य बढा। फोटो लिये जाने लगे। कुल मिलाकर सघर्ष की भूमिका प्रशस्त होती गई।

आदर्श साहित्य-सघ का भी उस मे बहुत बडा भाग है। उसने अणुव्रत-आन्दोलन के प्रचार व साहित्य-प्रकाशन मे बडी तत्परता से कार्य किया। कुछ नए कार्यकर्ता सामने आये। समाज के पुराने मुखिया उन्हे नही पचा सके या वे उनके साचे मे ढल नही सके। कुछ भी हो सघर्ष की स्थिति पक गई। यह आन्तरिक सघर्षो के निमित्तो की एक झाकी है। जयपुर मे बाहरी सघर्ष जब चरम सीमा पर पहुँचा तो आन्तरिक सघर्ष अकुरित हुआ।

अस्पृश्यो का पहला स्पर्श

वि० स० २००३ तक आचार्यश्री की गतिविधि वही थी, जिससे जनसाधारण परिचित था। २००४ मे परिवर्तन का प्रारम्भ हुआ। उस समय रतनगढ चातुर्मास

---

१ आचाराग

२ वि० स० २००५ फाल्गुन शुक्ला ?, सरदारशहर।

था। देवेन्द्रकुमार कर्णावट ने आदर्श साहित्य संघ के एक विभाग के रूप में लोक-मंच की स्थापना की। वहां साप्ताहिक व्याख्यान होते। अनेक विचारकों को आमन्त्रित किया जाता। वे आचार्यश्री के सम्पर्क में आते। इस प्रकार वह विचार-संगम बन गया।

परिवर्तन और क्या है? विचार-विकास ही तो परिवर्तन है। विचार रूढ होता है तो व्यक्ति स्थिर रेखा पर चलता है। विचार ग्रहणशील होता है, तब वह नई-नई रेखाएं खींचता है। वे रेखाएं अपरिचित होती हैं, इसलिए लोग उनसे भय खाते हैं।

उन्हीं दिनों की बात है, आचार्यश्री छापर में थे। उन्होंने एक साधु से कहा—जाओ, हरिजन बस्ती में व्याख्यान दो। उन्हें समझाओ, वे मांस न खाएं, मद्य न पीएं। वे गये, पर उनका मन समस्याओं से भरा था। इधर आचार्यश्री का आदेश था, जो कभी टाला नहीं जाता। उधर हरिजन बस्ती में व्याख्यान देने जाना था, जो पहला अवसर था। हरिजनों ने उन्हें सुना। अनेक लोगों ने मद्य-मांस छोड़ा, सैकड़ों व्यक्ति सम्मिलित होकर आचार्यश्री के पास आए। साधु और श्रावक उन्हें कुतूहल भरी दृष्टि से देख रहे थे। वे सकुचाये-से खड़े थे। कुछ लोगों ने मखौल के रूप में कहा—"आचार्यश्री के चरण स्पर्श करो। उनका अन्तर्-भाव यह था कि आचार्यश्री इन्हें चरण-स्पर्श नहीं करने देंगे। आचार्यश्री क्यों रोकते? वे आगे आए और चरण-स्पर्श किया। इससे अनेक श्रद्धालु श्रावक उत्तेजित हो गये। उनकी धारणा में हरिजनों को आचार्यश्री को छूने का अधिकार नहीं था। यह एक लम्बी चर्चा का विषय बन गया। जिनके संस्कार रूढ थे, उन्होंने इस दृष्टि से देखा कि आचार्यश्री सबको एकमेक कर रहे हैं, यह ठीक नहीं हो रहा है। जो आचार्यश्री के स्थायी आलोचक थे, उन्होंने लिखा—"कौआ चले हंस की चाल", "नई बोतल में पुरानी शराब" आदि-आदि।[1] आचार्यश्री का चिन्तन इन दोनों दृष्टियों से अप्रभावित था। वे यह मानकर चलते—

(१) कुछ लोग ऐसे श्रद्धालु हैं कि मैं जो कुछ करूं उसे वे ठीक ही मानेंगे।

(२) कुछ लोग ऐसे आलोचक हैं कि मैं अच्छा या बुरा जो कुछ करूं, उसकी वे आलोचना ही करेंगे।

(३) कुछ लोग ऐसे हैं, जो मेरे कार्यों को परख कर अपना मत मुझे बता देंगे।

आचार्यश्री इस तीसरी कोटि के व्यक्तियों की समीक्षा को ही मूल्यवान् मानते हैं। आचार्यश्री ने अमरगान में एक पद्य लिखा है

व्यक्ति-व्यक्ति में धर्म समाया।
जाति-पांति का भेद मिटाया॥
निर्धन, धनिक न अन्तर पाया।
जिसने धारा जन्म सुधारा।
अमर रहेगा धर्म हमारा॥१॥

---

१. तरुण

हमरे श्रावको ने ही न जाने कितने व्यग कसे होगे ? 'जाति-पाँति का भेद मिटाया' इसका जी भर उचित या अनुचित प्रयोग किया होगा ? पर आचार्यश्री उससे कभी क्षुब्ध नही हुए।

अणुव्रत-प्रार्थना

प्रात काल आचार्यश्री की सन्निधि मे अणुव्रत-प्रार्थना[1] होती है। उसमे जीवन शुद्धि के सकल्प हैं। रूढ धारणा यह है कि प्रात काल मे भगवान् का नाम लेना चाहिये। बहुत लोग इस प्रार्थना मे इसलिए सम्मिलित नही होते कि इसमे भगवान् का नाम नही है।

ऐसा वातावरण बनाया गया कि प्रात कालीन प्रार्थना को बदला जाये। प्रार्थना मे सम्मिलित होने वाले भी विरोधी आलोचना को सुन कभी-कभी प्रार्थना को बदलने के लिए कह देते। आचार्यश्री ने अपना निश्चय अडिग रखा। उन्होंने अनेक बार स्पष्ट किया। मैं भगवान् की आज्ञा के पालन को उनके नाम के जप से अधिक धर्म मानता हूँ। जो भगवान् के नाम का जप करता है, किन्तु उनके बताये हुए मार्ग पर नही चलता, वह अच्छा धार्मिक नहीं है और जो भगवान् के बताए हुए मार्ग पर चलता है वह भगवान् का नाम न ले फिर भी अच्छा धार्मिक है। पिता अपना नाम जपने वाले पुत्र की अपेक्षा उस पुत्र को अधिक मानेगा, जो उसकी आज्ञा का पालन करता है।

बस्ती-बस्ती में

हमारा प्रवचन प्राय वही होता, जहा हम लोग ठहरते। सार्वजनिक प्रवचन का द्वार लगभग खुला नही था। यह अभिमत नही था, ऐसी बात नही। किन्तु बहुत बार ऐसा होता है कि अभिमत तत्त्व भी प्रयोग मे नही आते हैं तो वे अनभिमत से भी अधिक अकरणीय बन जाते हैं। प्रसंगवश मैं एक घटना का उल्लेख किये देता हूँ। महासती वदनाजी आचार्यश्री की संसार-पक्षीय माता हैं, साध्वी हैं। जैन मुनि के लिए साधारणतया पैरो मे कुछ पहनना और छत्र रखना निषिद्ध है। स्थविर के लिए वे कार्य निषिद्ध नही हैं। वे स्थविर हैं। इसलिए उन्होंने उनका प्रयोग किया। लोगो ने भारी ऊहापोह किया। कुछ साधु भी इससे नही बचे। जब उन्हे यह बताया गया कि यह कार्य आगम-विहित है, तब उन्हे सन्तोष हुआ। शब्द ज्ञान को प्रमाण न मानने मे जितनी कठिनाइया हैं, उतनी ही कठिनाइयां उसे प्रमाण मानने मे है। शब्द ज्ञान को प्रमाण मानकर हम चिर-अतीत मे उपलब्ध सत्यो से वचित नही होते, यह लाभ है। अलाभ यह है कि हम शब्दो की पकड नये तथ्यो की उपलब्धि से वचित हो जाते हैं। आचार्यश्री ने जैसे-जैसे परिवर्तन किये वैसे-वैसे शाब्दिक पकड के निदर्शन हमे मिलते गये। हमे इसलिए प्राचीन साहित्य को पढने का अधिक प्रोत्साहन मिला। साधारण

---

१ इसका प्रारम्भ वि० स० २०११ चैत्र शुक्ला ६ को औरंगाबाद में हुआ।

लोग तब तक किसी बात को प्रमाण नहीं मानते, जब तक उन्हें यह न बता दिया जाये कि प्राचीन आचार्यों ने वैसा किया या लिखा है।

आचार्यश्री ने सार्वजनिक प्रवचन किये[1], बस्ती-बस्ती में जाकर प्रवचन दिये तो प्रश्न खड़ा हो गया—अपने ऐसा नहीं करते थे। अब ऐसा क्यों किया जाता है? प्यासा कुए के पास जाता है। कुए को प्यासों के पास जाने की क्या जरूरत है।

आचार्यश्री ने इसका विनोद की भाषा मे उत्तर दिया। आज के युग की उल्टी रीत है। प्यासा कुए के पास नहीं जाता, कुआ प्यासे के पास जाता है। घर-घर मे ट्यूबवेल (tube-well) हैं।

घर-घर में

छुटपन और बड़प्पन का मानदण्ड एक नहीं है। मनुष्य की हर प्रवृत्ति मे उसका आरोप हो जाता है। कोई आदमी किसी दूसरे आदमी के पास जाता है, इसमे भी ये दोनों भावनाए आरोपित हैं। वह बड़ा है, जिसके पास लोग आते हैं और वे छोटे हैं जो उसके पास जाते हैं। कुछ लोग आचार्यश्री के पास इसलिए नहीं आते थे कि वे आचार्यश्री को अपने से बड़ा मानने के लिए तैयार नहीं थे। कुछ लोग आचार्यश्री मे गर्व का भाव देखते थे। उनकी दृष्टि थी कि आचार्यश्री दूसरो को अपने पास बुलाते हैं, वे कहीं नहीं जाते। आचार्यश्री ने एक दिन कहा—"जो लोग हमारे पास आने मे संकोच करें उनके पास हमे जाना चाहिये। अपने विचारों से उन्हे परिचित करा देना चाहिये और उनके विचारो से हमे परिचित हो जाना चाहिये।" मुनिश्री नगराजजी और महेन्द्रकुमारजी ने इसका प्रयोग शुरू किया।[2] परिणाम अच्छा आया। पर श्रावक लोग चुप नहीं रहे। कुछ व्यक्तियों ने आचार्यश्री से कहा—"हमारे साधु इस प्रकार घर-घर मे घूमे, यह शोभा नहीं देता। इससे उनका सम्मान कम होता है। इस प्रव्रजन को सर्वथा रोक देना चाहिए!" आचार्यश्री ने कहा—"यह मत्र हमे आचार्यश्री भिक्षु से मिला है। मैं इसे क्यो रोकू। उन्होंने अपने शिष्यों से कहा था—'व्यापारी लोगो के दुकान का काम रहता है, इसलिए वे तुम्हारे पास नहीं आ सकते। तुम उनकी दुकानो में चले जाओ। वे ग्राहको मे फसे रहे, तब तुम अपना काम करो और वे उनसे निपट जायें तब तुम उन्हे धर्म का तत्त्व समझाओ।' मैंने उन्हीं के चरण-चिन्हों का अनुसरण किया है। मैं नहीं मानता कि उससे हमारे साधुओं का सम्मान कम होता है, मेरी दृष्टि मे वह बढता है।"

आचार्यश्री स्वयं दूसरो के यहा जाने लगे। बम्बई मे इसका बडा चमत्कार देखा।[3] उन दिनो मोरारजी देसाई मुख्य-मन्त्री थे। वे आचार्यश्री के पास आये। पर जो भाव लेकर गए, वह प्रकाशमय नहीं था। एक दिन आचार्यश्री उनकी कोठी पर

---

१. यह वि० स० २००५ बीकानेर डिवीजन में शुरू हुआ।

२. यह क्रम वि० स० २००७ में शुरू हुआ।

३. वि० स० २०११।

गए। आचार्यश्री के प्रति उनकी धारणा ही नही बदली, किन्तु उन्होंने इसे एक अनुग्रह माना। फिर तो आचार्यश्री और उनमे विचारो का तादात्म्य-सा हो गया और कौन कहाँ जाये-आये यह भी प्रश्न गौण हो गया।

आचार्यश्री दिल्ली मे थे।[1] जैनेन्द्रजी ने काका कालेलकर से आचार्यश्री के पास आने को कहा। उन्होने झट से पूछा—"सबको उन्ही के पास जाना पडता है या वे भी दूसरो के पास जाते है।" जैनेन्द्रजी ने कहा—"कल अचानक ही वे मेरे घर पर आए और आधा घण्टा ठहरे।" फिर उन्हे आने मे कोई कठिनाई नही हुई।

बराबर कैसे बैठें

तेरापथ की परम्पराए बहुत पुष्ट हैं और उनके पीछे विनय का बहुत बडा मनोभाव है। उसके आचार्य को जो बहुमान प्राप्त है, वह किसी सम्राट् को भी सुलभ नही है। आचार्य अपने शिष्यो से ऊचे आसान पर बैठे, यह सहज ही है। पर आचार्य कही दूसरे स्थान मे जाए और चौकी पर न बैठे, यह क्षम्य नही था। दिल्ली मे खमावणी दिवस मनाया गया।[2] जैनेन्द्रजी के अनुरोध पर आचार्यश्री वहा गए। उन्होंने सकुचाते हुए कहा—"वहा अतिरिक्त व्यवस्था नही की गई है। सब ऐसे ही बैठें, यह सोचा गया है। आचार्यश्री ने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। आचार्यश्री ऐसे ही बैठ गए। पास मे स्थानकवासी साधु बैठे थे। बस अब क्या था। आचार्यश्री के वापस आते ही चर्चा उठ खडी हुई। आचार्यश्री समाज की प्रतिष्ठा का ध्यान नही रखते। आचार्य व सामान्य साधु बराबर बैठें यह कैसे उचित है? जैनेन्द्रजी ने ऐसी क्या व्यवस्था की? आचार्यश्री ने इसे बहुत शान्ति मे सम्हाला और कहा—"समन्वय के लिए यह आवश्यक है कि युग भावना के साथ परम्परा का मेल बिठाया जाये।"

दीक्षा को चुनौती

जैन सघ मे चार तीर्थ होते हैं—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका। जिन श्रावक-श्राविकाओ मे विराग का उदय होता है, वे गृहस्थ-जीवन को त्याग मुनि जीवन की दीक्षा लेते हैं। दीक्षा सभी सम्प्रदायो मे होती है, तेरापथ मे भी होती है। चातुर्मास[3] मे दीक्षा होगी, यह निश्चय हुआ और जो विरोध करना चाहते थे, उन्हे उसका माध्यम मिल गया। स्थानीय व्यक्तियो ने बाल-दीक्षा विरोधी समिति का गठन किया और विरोध का तूफान-सा ला दिया। उस समय राजस्थान के मुख्य मन्त्री हीरालाल शास्त्री थे। उनके मन्त्रि-मडल के कई सदस्य इस समिति की प्रवृत्तियो का सचालन कर रहे थे। जयपुर की गली-गली मे विरोध उभर रहा था। आचार्यश्री ने थोडे समय तक स्थिति का

---

१ वि० स० २००८
२ वि० स० २००८
३ जयपुर २००६

अध्ययन किया। फिर यह निश्चय हो चला कि विरोध का आधार दीक्षा नहीं है, वह तो एक माध्यम है। मूलत उनका विरोध तेरापथ के समर्थ आचार्य और उनके प्रभावशाली साधु-सघ से है। उस समय जो दीक्षित हो रहे थे, उनमे एक भी ऐसा बालक नही था, जिससे वे विरोध करने के लिए बाध्य हो। इधर बाल-दीक्षा विरोधी समिति के सदस्य दीक्षा को चुनौती दे रहे थे, उधर दीक्षा लेने वाले अपने सकल्प पर दृढ थे। तेरापथ के श्रावक इस विश्वास पर चल रहे थे कि दीक्षा किसी भी स्थिति मे नही रुकेगी। आचार्यश्री का चिन्तन यह रहा कि दीक्षा लेने वालो का सकल्प दृढ रहा तो वह होगी और उनका सकल्प दृढ नही होगा तो वह नही होगी। आचार्यश्री ने आश्विन कृष्णा ६ को जैन-दीक्षा विषय पर एक सार्वजनिक प्रवचन दिया। पौने दो घण्टा तक दीक्षा के विविध पहलुओ पर प्रकाश डाला। उसमे हजारो व्यक्ति उपस्थित थे। बाल-दीक्षा विरोधी समिति के सदस्य भी थे। उस प्रवचन ने जन-साधारण की भावना मे बहुत बडा परिवर्तन ला दिया। आचार्यश्री ने कहा—"विरोध करने वाले दूर रहकर विरोध क्यो करते हैं? वे निकट मे मुझे समझना और अपना दृष्टि-बिन्दु मुझे समझाना क्यो नही चाहते?" इसकी तात्कालिक प्रतिक्रिया हुई और आश्विन कृष्णा ११ को बाल-दीक्षा विरोधी समिति का एक प्रतिनिधि-मडल आया। उसमे प्रमुख व्यक्ति थे—लोकवाणी के प्रबन्ध सम्पादक जवाहरलाल जैन, रामचन्द्र कासली-वाल, सोभागमल श्रीश्रीमाल और बालचंद सुराणा। शिष्टाचार के बाद मूल विषय पर चर्चा चली। २॥ घण्टा तक वह चलती रही। प्रारम्भ मे जवाहरलाल जैन ने कहा—"लोकवाणी मे बाल-दीक्षा पर जो सम्पादकीय लेख था, वह आपने पढा होगा?" आचार्य श्री ने कहा—"पढा है।" उन्होंने उसी के आधार पर बातचीत करने की इच्छा प्रगट की। आचार्यश्री ने उसे स्वीकार कर लिया। उन्होंने चार प्रश्न रखे

(१) बालक के विचार परिपक्व नही होते। वे अपने भविष्य का निर्णय नही कर सकते। उनमे खेल-कूद की प्रवृत्ति अधिक होती है। दीक्षा कठोर साधना है। उस ओर वे सहजत प्रवृत्त हो ही नही सकते।

(२) बचपन मे जो दीक्षित होते हैं, उनका अध्ययन पूरा नहीं होता। फिर वे पण्डितो के पास पढते हैं। उनसे जो मिलता है, वही साधु लोग जनता को सिखाते हैं। फलत युवक वर्ग पर उसका कोई असर नही होता।

यदि वे १८-२० वर्ष की अवस्था तक अपने साथियो के बीच रहकर उनकी गतिविधियो का अध्ययन करें और फिर मुनि बनें तो वे अपने अनुभव के आधार पर जनता को बहुत कुछ दे सकते हैं।

(३) बचपन मे दीक्षित होने वाले जवानी मे डिग जाते हैं। तब उन्हें समाज कोई सहयोग नही देता। उन्हें पग-पग पर कठिनाईया झेलनी पडती हैं। लोग उन्हें घृणा की दृष्टि से देखते हैं। उनका जीवन बोझिल बन जाता है।

(४) मानस-शास्त्र के अनुसार व्यक्ति अपने जीवन का ध्येय १८ से २१ वर्ष की अवस्था के बीच निश्चित कर सकता है, उससे पहले नही। इसलिए बालक को

दीक्षित करना किसी प्रकार से उचित नही।

आचार्यश्री ने अपना दृष्टिकोण उन्हे समझाया—

(१) "आप विचारो को महत्त्व देते हैं, इसलिए आपका तर्क है—बालक के विचार परिपक्व नही होते। मैं सस्कारो को महत्त्व देता हूँ इसलिए मेरा मत यह है—जन्म-जन्मान्तर के सचित सस्कार कही-कही बचपन मे भी जागृत हो जाते हैं। भविष्य का निर्णय करना बालको के लिए ही नही, युवको और बूढो के लिए भी कठिन है, ऐसा मैं मानता हूँ। प्रवृत्ति का आधार व्यक्ति का वर्तमान ही बनता है। बालकों मे खेल-कूद की प्रवृत्ति नहीं होती, यह तो कैसे कहूँ पर मनुष्य स्वभाव की विचित्रता को मैं भुला भी नही सकता। मैंने अनेक बालको का शान्त-स्वभाव देखा है।

(२) साधना के लिए मैं अध्ययन को उतना आवश्यक नहीं मानता, जितना पवित्र हृदय को मानता हूँ। नव-दीक्षित साधु का अध्ययन गुरु-परम्परा से होना चाहिये, इस विचार मे मैं सहमत हूँ। तेरापथ मे ऐसा ही होता है, यह मैं कह सकता हूँ। मेरी मान्यता मे सत्य की अनुभूति जितनी ध्यान व मनन मे होती है, उतनी बाहरी स्थितियों के अध्ययन मे नही होती।

(३) आप कहते हैं—बचपन मे दीक्षित होने वाले जवानी मे डिग जाते हैं और मैं कहता हूँ, जवानी मे दीक्षित होने वाले जवानी मे डिग जाते हैं। मेरा अनुभव यह है कि बालको की अपेक्षा युवक और बूढे अधिक डिगते हैं। डिगने के बाद वह सम्मान की भावना कैसे हो सकती है, जो पहले होती है। किन्तु घृणा न होनी चाहिये।

(४) मानस-शास्त्रियो ने जीवन परिवर्तन की दो अवस्थाए बतलाई हैं। ११-१२ या १८-२० वर्ष की अवस्था मे जीवन का प्रवाह बदलता है, भोग या त्याग की ओर मुड़ता है। इसलिए १८-२० वर्ष से पहले व्यक्ति अपना ध्येय निश्चित नही कर सकता, यह कैसे माना जाए ?

आचार्यश्री का दृष्टिकोण जान उन्होंने सतोष व्यक्त किया। उन्होंने कहा—"आप दीक्षा के लिए १८ वर्ष की अवस्था का नियम बना दें तो हमे अधिक प्रसन्नता होगी।" आचार्यश्री ने कहा—"नियम मैं कैसे बनाऊ ? मेरा इस अवस्था के सिद्धान्त मे विश्वास ही नही है। नाबालिग को दीक्षित किया जाये या नही, यह स्थिति सापेक्ष हो सकता है। अयोग्य दीक्षा का मैं आपसे कम विरोधी नहीं हूँ, पर इसमे भी सच्चाई नही देखता कि योग्यता का सम्बन्ध अवस्था से है। बालक को ही दीक्षा दी जाये, यह मेरा आग्रह नही है। मेरा आग्रह यह है कि दीक्षा योग्य व्यक्ति को दी जाये। यह मैं नही मानता कि दीक्षा के लिए बालक सबके सब अयोग्य ही होते हैं और युवक व बूढे सबके सब योग्य ही होते हैं। जिसके सस्कार पवित्र होते हैं, जिसके मोह का भाव कम होता है, वही दीक्षा के योग्य होता है, भले फिर वह बालक हो, युवक या बूढा हो। वे युवक और बूढे भी दीक्षा के लिए अयोग्य है जो सस्कारो से पवित्र नही हैं और जिनका मोह उपशान्त नही है।

आचार्यश्री तेरापथ के आचार्य हैं। तेरापथ का मूल-आधार है दीक्षा। इसलिए

दीक्षा का प्रश्न आचार्यश्री के साथ जुड़ा हुआ है। तेरापंथ की दीक्षा-प्रणाली प्रारम्भ से ही निरापद रही है और समय-समय पर आचार्यों ने परिष्कार किया है। इस परिष्कृत प्रणाली के आधार पर ही आचार्यश्री ने अपना स्पष्ट दृष्टिकोण उनके सामने रखा। आचार्यश्री ने उन्हें बताया—"मैं समय की गति व जन-मानस को समझता हूँ, इसलिए मैं कहना चाहता हूँ कि आप इस विषय में इतने चिन्तित न रहें। तेरापंथ की मर्यादा के अनुसार आचार्य ही दीक्षा देते हैं। अभिभावकों की लिखित स्वीकृति मिले बिना दीक्षा नहीं दी जाती। आवश्यक ज्ञान और चरित्र की साधना के पश्चात् दीक्षा दी जाती है। दीक्षित होने के बाद कोई डिग जाये तो उस पर कोई नियन्त्रण नहीं है। जो संघ से अलग हो जाये, उसके साथ हमारा कोई विरोध भी नहीं है। मैं, हमारी दीक्षा-प्रणाली में कोई कमी नहीं देखता। इसलिए मैं नहीं समझता कि अभी मुझे इसमें कोई परिवर्तन लाना चाहिये। उन्हें आचार्यश्री की स्पष्ट दृष्टि मिली, इसलिए संतुष्ट दीख रहे थे, किन्तु उन्हें जो इष्ट था, वह नहीं मिला, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि वे पूर्ण तोष को लेकर गए। आचार्यश्री की दृढ़ता देख उनकी भावना में और अधिक तीव्रता आ गई। दीक्षा को रोकने के लिए उनके प्रयत्न और अधिक तीव्र हो गए। बाहर से विद्वानों को बुलाया गया। कई सभाएं आयोजित की गईं और कानून का सहारा लेने के लिए प्रयत्न भी किये गये।

तेरापंथ वैसे ही संगठित सम्प्रदाय है और जब सामने विरोध होता है तो संगठन स्वयं प्रबल हो जाता है। लोगों को यह अनुभव हुआ कि दीक्षा को रोकने का तीव्र प्रयत्न हो रहा है तो वे संगठित हो जयपुर में आने लगे। राजस्थान, पंजाब, मध्यप्रदेश आदि प्रान्तों के लगभग १५ हजार आदमी एकत्रित हो गए। दीक्षा की निश्चित तिथि भी निकट आ गई। आचार्यश्री ने जनता को शान्त रखा और बताया कि दीक्षार्थी यदि दृढ़ हैं तो दीक्षा को कोई नहीं रोक सकता।

अधिक-से-अधिक यह हो सकता है कि दीक्षार्थियों को ठीक समय पर मेरे पास न आने दें। उस समय दीक्षार्थी स्वयं दीक्षा ले लें। आचार्यश्री ने भीड़ को सम्बोधित करते हुए कहा—"हम साधन शुद्धि में विश्वास रखते हैं। इसलिए हिंसा के प्रति हिंसा व उत्तेजना के प्रति उत्तेजना न लायें। विरोध का प्रतिकार न करें, यह मैं नहीं कहता, किन्तु वह अहिंसक ढंग से किया जाये, यह मैं दृढ़ता के साथ कहता हूँ। और मेरा विश्वास है कि कोई भी तेरापंथी इस सत्य से विचलित नहीं होगा।

दीक्षा ठीक निश्चित समय पर हुई, शान्ति के साथ हुई। किन्तु उसके लिए जितना दीर्घकालीन और सुव्यवस्थित विरोध जयपुर में हुआ, उसे 'न भूतो' और संभवतः 'न भविष्यति' भी कहा जा सकता है। इस संघर्ष में आचार्यश्री सुदूर क्षेत्रों में बाल-दीक्षा के कट्टर समर्थक के रूप में पहिचाने जाने लगे। यद्यपि आचार्यश्री पहले से ही युग-भावना के साथ संगति ला चुके थे, फिर भी बाल-दीक्षा कानून द्वारा बन्द हो यह उन्हें इष्ट नहीं था और न है और जहां कहीं बाल-दीक्षा का प्रस्ताव आता है, वहां वे उसकी आलोचना करते हैं। बम्बई विधान परिषद् में बाल-संन्यास दीक्षा प्रतिबन्धक बिल आया था। आचार्यश्री ने उस समय यही कहा था—"अयोग्य दीक्षा के

लिए पर्याप्त कानून है। योग्य दीक्षा को रोकने के लिए कोई कानून नही होना चाहिये।" फिर मुख्य मत्री मोरारजी देसाई की स्पष्ट नीति से वह प्रस्ताव पारित नही हुआ। उस अवसर पर मोरारजी देसाई ने विधान परिषद् के सदस्यो के सम्मुख जो तथ्य प्रस्तुत किये, वे दीक्षा के समर्थको व विरोधियो, दोनो के लिए वहुत ही मननीय हैं। उन्होंने कानून की अनावश्यकता वतलाते हुए कहा—"यदि यह सत्य है कि कोई व्यक्ति ससार को छोडना चाहता है तो क्या सरकार के लिए यह उचित है कि वह उसे रोके? नावालिग का अर्थ सदा उस व्यक्ति से नही होता, जो किसी चीज को न समझे। नावालिग वह है, जो २१ वर्ष से नीचे का हो। अगर वह ससार को छोडना चाहे और उसके लिए कटिवद्ध रहे तो सरकार के लिए क्या यह उचित है कि वह उसे रोके? वे ससार को छोड सकते हैं और कही जा सकते हैं। उनको रोका कैसे जा सकता है। नावालिग भी हमसे ज्यादा बुद्धिमान हो सकता है। हमे यह भी नही भूल जाना चाहिये कि यह एक पूर्व कर्मो की वात है। ससार मे अद्‌भुत वालक हुए हैं। वे सारे उदाहरण हमारे सामने हैं। हमे यह नही सोचना चाहिये कि चूकि हम वडे हो चुके है, अत अधिक वुद्धिमान है। इसके विपरीत ज्यो-ज्यो हम अधिक वडे होते हैं, हमारी वुद्धि घटती जाती है। यह भी कई अशो मे सत्य है।

"मैं यह नही कहता कि हरेक वालक वुद्धिमान होता है, और हरेक वालक यह समझता है। मेरे विचार से बहुत थोड़े वालक ऐसे होते हैं। फिर भी यह कानून उनकी उन्नति मे रुकावट डालेगा। अगर वे अपनी इच्छानुसार ऐसा नही कर सकेंगे, जबकि उनकी आत्मा ऐसा करने के लिए तडपती हो। उनकी आत्मा की पुकार रुक सकती है या नही, यह एक वडे ध्यान देने की वात है।

मैं ऐसा कोई भी कार्य नही करना चाहता, नावालिग या नावालिग किसी भी व्यक्ति को चाहने पर भी वास्तविक धार्मिक जीवन ग्रहण करने मे वाधा पहुँचे। ऐसा करने पर तो हमे मानवता का विगडता हुआ स्वरूप ही मिलेगा। अगर हम आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी जनता को स्वतन्त्रता नही देते है तो स्वतन्त्रता रहेगी कहा? हम जनतत्र की वात सोचते हैं। जनतन्त्र का प्राण स्वतन्त्रता है, विशेपकर मानसिक स्वन्त्रता है।

"मुझे किसी व्यक्ति को सासारिक जीवन अपनाने से नही रोकना चाहिये। इस कारण से कि मैं खुद सन्यास-जीवन को नही अपना सकता। इन्सान के साथ वर्ताव करने का यह तरीका गलत है। सिर्फ इसी कारण से कि मैं समझता हूँ कि सासारिक जीवन अच्छा है, मुझे हरेक व्यक्ति को सासारिक जीवन की ओर जाने के लिए नही कहना चाहिये। अगर सन्यासी लोग कहे भी कि सासारिक जीवन अच्छा नही है तो भी मैं सन्यासी होने के लिए तैयार नही हूँ। तव मुझे क्यो जोर देकर कहना चाहिये कि मैं सासारिक जीवन को अच्छा समझता हूँ, अत किसी को भी सन्यासी नही होना चाहिये। जिस तरह मैं अपने जीवन मे इस रास्ते पर चलने की स्वतन्त्रता चाहूँगा, जिसे मैं चाहता हूँ, उसी तरह मुझे दूसरो को उस रास्ते पर चलने के लिए स्वतत्रता देनी चाहिये जिस पर वे चलना पसन्द करते हो। वास्तव मे दुनिया मे ऐसे अल्पसख्यक व्यक्ति

होंगे जो सांसारिक जीवन की अपेक्षा साधु जीवन में ज्यादा सुख एवं शान्ति का अनुभव करते हैं, लेकिन यह कोई मतलब की बात नहीं कि ऐसे लोग बहुत कम होंगे। अतः हम कोई चीज बिना सोचे-समझे ही कानून बना दें। धर्मान्ध व संदिग्ध व्यक्ति छोटी उम्र के बच्चों से जो अनुचित फायदा उठाते हों, उसे हमें अवश्य रोकना चाहिये। लेकिन मुझे बिलकुल विश्वास है कि मौजूदा कानून के अन्दर ऐसे लोगों को, बच्चों को चुराने से तथा उनका दुरुपयोग करने से रोकने के लिए काफी विधान है।

"साधु व संन्यासियों के तमाम संघों में, जिनको कि मैंने देखा है, मुझे कहना चाहिये कि त्याग और तपस्या के आदर्श को जितना जैन साधुओं ने सुरक्षित रखा है, उतना और किसी संघ के साधुओं ने नहीं, यह जैनियों के लिए गौरव की चीज़ है। अतः ऐसे सम्प्रदायों पर जिनके साथ मत-भिन्नता के कारण हम एक मत नहीं, आक्रमण करने से कोई फायदा नहीं।

"मैं यह नहीं सोचता कि शंकराचार्य, हेमचन्द्राचार्य, और ज्ञानेश्वर जैसे व्यक्तियों के रास्ते में रोड़ा अटकाना हमारे लिए उचित होगा, क्योंकि अगर हम ऐसा करते हैं तो इसका मतलब होगा कि हम केवल अपने देश को ही नहीं बल्कि संसार को ऐसे महान् व्यक्तियों से वंचित करते हैं। मैं नहीं सोचता कि हमें सामाजिक सुधार के नाम पर कभी ऐसी चेष्टा करनी चाहिये।"[1] इस लम्बे उद्धरण में वे ही विचार भाषा में बंधे हैं, जो आचार्यश्री के हैं। विचारों के अभेद के सामने भाषा भेद को मैंने गौण माना और वे उद्धृत कर दिए। इन विचारों की परिधि में उन्होंने अनेक संघर्ष मोल लिए हैं। जयपुर का संघर्ष उन सब में अधिक शक्तिशाली था।

विरोध का विचित्र रूप

आचार्यश्री पहली बार ही कलकत्ता में पधारे। वहां आठ मास का प्रवास हुआ। आचार्यश्री ने उस प्रवास को अपने शब्दों में इस प्रकार चित्रित किया—"कलकत्ता यात्रा आदि में बहुत सुन्दर, मध्य में मध्यम, और अन्त में बहुत-बहुत सुन्दर रही।[2]

कलकत्ता में चल रहे आयोजन नागरिकों के हृदय का स्पर्श कर रहे थे। किसी ने आचार्यश्री को नए-युग के 'मसीहा' कहा, किसी ने युग की चेतना के प्रतिनिधि और किसी ने मानवता के महान् संरक्षक। वहां के व्यापारिक वातावरण में नैतिकता और अध्यात्म का स्वर गूंजने लगा। हजारों-हजारों अपरिचित, अर्ध-परिचित और परोक्ष परिचित व्यक्ति साक्षात् परिचय में आए। उस स्थिति में कुछ लोग आचार्यश्री के यशस्वी-जीवन और बढ़ते हुए वर्चस्व को आवृत करने का यत्न करते रहे। उन्होंने एक प्रबल विरोधी वातावरण निर्मित किया।

जैन साधुओं के प्रति जनता में घृणा फैलाने के लिए सुदूर अतीत में ऐसा विरोध शायद किया गया होगा, किन्तु निकट के अतीत में ऐसे विरोध का उल्लेख नहीं

१. जैन भारती १८ दिसम्बर, १९५५
२. डायरी ४ पृ० २१४

मिलता। इस विरोध का नामकरण था—'मल-मूत्र प्रकरण'। इस विरोध मे जो व्यक्ति सम्मिलित हुए, वे सबके सब दुर्भावना से ग्रस्त थे, यह नही कहा जा सकता। वास्तविकता यह थी कि कुछ-एक व्यक्तियो के मन मे विरोध का भाव था और कुछ-एक उनके भुलावे मे आकर पीछे-पीछे घसीटे जा रहे थे। आज के बडे व्यक्तियो व नेताओ की विचित्र-सी स्थिति है। वे अपना मत देने व हस्ताक्षर करने मे इतनी शीघ्रता करते हैं कि कुछ कहते नही बनता। जहा दायित्व हो वहा गभीरता, दूरदर्शिता और चिन्तन की सूक्ष्मता होनी चाहिए। कलकत्ता मे इसके विपरीत उदाहरण मिले।

इस 'मल-मूत्र प्रकरण' के प्रसग मे कुछ युवको ने दो दिन का अनशन भी किया। सैकडो स्थानो से अभिमत मगवाए। वातावरण को विषाक्त बनाने के यथा-सम्भव प्रयत्न किये गये, पर जो आशा थी वह शायद सफल नही हुई।

विरोध से अप्रिय वातावरण नही बनता, उसमे प्रिय परिस्थिति का भी निर्माण होता है। विरोध के समय जो सगठन होता है, वह साधारण स्थिति मे नही होता। अप्रिय स्थिति को एक बार सहना ही कठिन होता है। जो एक बार उसे सह लेता है उसके लिए वह अप्रिय नही रहती। विरोध मानसिक सन्तुलन की कसौटी है। विरोधी वाता-वरण को देख जो घबडा जाता है, वह पराजित हो जाता है और जो उससे घबडाता नही, वह उसे पराजित कर देता है। आचार्यश्री की वृत्तिया बहुत ही मृदु हैं। वे अनाग्रह की बात करने वालो मे नही, किन्तु उसे जीवन-व्यापी बनाने वालो मे से है। पर अनाग्रही होने का अर्थ यह नही है कि जो कोई विचार सामने आए, उसे स्वीकार करलें। 'मल-मूत्र प्रकरण' से सम्बन्धित कुछ व्यक्तियो ने यह सुझाव रखा कि आप शौच कार्य के लिए अपने स्थान मे गड्ढे खुदवा लें। आचार्यश्री ने उसे स्वीकार नहीं किया। उस समय वहा स्थानकवासी सम्प्रदाय के मुनि . .भी थे। उन्होंने इस सुझाव को स्वीकार कर लिया। इसके लिए उन्हे धन्यवाद देने को एक सभा का आयोजन किया गया।

वे लोग आचार्यश्री को आग्रही प्रमाणित करना चाहते थे। उनकी सुधार की आवाज मे सत्य का आग्रह, हृदय का अनाग्रह दोनो नही थे। यह अनुभव केवल हमे ही, नही, बहुतो को हो रहा था। कुछ व्यक्तियों के आग्रह मे रस होता है, पर आग्रही कहलाना उन्हे अच्छा नही लगता, इसलिए वे अपने आग्रह पर अनाग्रह का झोल चढा देते हैं। कुछ व्यक्ति रूढि से मुक्त नही होते, या रूढिवादी कहलाना उन्हे अच्छा नही लगता, इसलिए वे रूढि पर सुधार का झोल चढा देते हैं। कलकत्ता के इस सुधारक वर्ग की स्थिति लगभग ऐसी ही थी।

विरोध ज्योति से पूर्व होने वाला धुआँ है। वह क्षण भर के लिए भले ही लोगो की आखो को धूमिल बना दे, पर अन्त मे ज्योति जगमगा उठती है। वे व्यक्ति धुए से कभी निराश नही होते, जिन्हे ज्योति की आशा होती है।

आन्तरिक संघर्ष

इस अध्याय की समाप्ति के बाद दूसरे अध्याय का श्रीगणेश हुआ। उस वर्ष

का मर्यादा-महोत्सव भी जयपुर में हुआ। उस समय कुछ साधुओं ने अणुव्रत-आन्दोलन, पारमार्थिक-शिक्षण-संस्था, धारणा प्रणाली, माइक, फोटो, प्रकाशन आदि के प्रश्न खड़े किए। आचार्यश्री ने अपना दृष्टिकोण बताया। शिष्टता व विनय के उपरान्त भी वह दृष्टि-भेद बना रहा। वह अन्दर ही अन्दर बढ़ता व समय-समय पर व्यक्त होता गया। आचार्यश्री के प्रति अश्रद्धा का वातावरण उत्पन्न कराने का प्रयत्न हुआ। इस अवधि में कुछ अनुशासनहीनता बढ़ी। आन्तरिक रहस्य गृहस्थों तक पहुँचाये जाने लगे, एक दूसरे में एक दूसरे के प्रति सन्देह घर कर गया। ऐसी स्थिति थोड़ी बहुत मात्रा में लगभग पांच वर्षों तक चली। आचार्यश्री ने इसमें परिवर्तन लाने के कई प्रयत्न किये, पर कोई स्थायी परिणाम नहीं हुआ। आखिर एक दिन कसौटी प्रस्तुत कर दी। उज्जैन का चातुर्मास समाप्त कर आचार्यश्री गंगापुर (मेवाड़) आए।[1] वहां आपने साधु-परिषद् में एक वक्तव्य दिया। उसमें बताया—"जो कोई विचार-भेद हो उसे मिटाने का यत्न करना चाहिए। किसी में भी आग्रह नहीं होना चाहिये। भिक्षु स्वामी ने जो पथ दिखाया है, वह ऋजु है। उस पर सब साधु ध्यान दें। स्वामीजी ने कहा है—'कोई प्रश्न समझ में न आए तो उसे समझने का यत्न करें और करते रहें। प्रयत्न करने पर भी समझ में न आए तो उसे 'केवलीगम्य' करदें—बुद्धि से अगम्य मानकर छोड़ दें, किन्तु खींचातान न करें। अपने विचारों का हनन न हो—यह जैसे इष्ट है, वैसे ही यह भी इष्ट है कि गण के विचारों का हनन न हो, गण में सबको विचार की स्वतन्त्रता है। किसी के भी विचार रौंदे नहीं जाते। जो नया चिन्तन आए, उसे प्रस्तुत किया जाए और परिवर्तन न करने के पक्ष में अगर कोई तर्क हो, उसे भी प्रस्तुत किया जाए। प्रस्तुत कर देने पर जो विचार गण द्वारा अभिमत हो, उसे मान्य किया जाए, शेष को चिन्तन के लिए छोड़ दिया जाए। किन्तु संघीय जीवन में यह कैसे उचित हो सकता है कि एक-एक व्यक्ति अपना-अपना विचार फैलाएं और गण की मान्यता की अवहेलना करें। यदि संघ की कोई उपयोगिता है और वह है तो ऐसा प्रयत्न होना चाहिए कि संघ एकसूत्रता का संघ रहे, केवल व्यक्तियों का समुदाय मात्र नहीं।

"कोई तर्क आए उसके लिए मेरा दिमाग़ खुला है, खुला रहेगा। जो निर्दोष लगता है, वह कार्य मैं करता हूँ। जिस दिन समझ लूंगा कि वह सदोष है, उसे उसी समय छोड़ देने के लिए तैयार हूँ। अभी इन वर्षों में मैंने गण की परम्परा में कुछ संशोधन किये, वे मुझे उचित लगते हैं। यदि वे अनुचित जान पड़ें तो मैं ही नहीं, मेरे पीछे जो कोई हो, उन्हें भी पूरा अधिकार है कि वे उनमें पुनः संशोधन कर दें। मुझे कोई आग्रह नहीं है। मैं यह चाहूँगा कि कोई साधु-साध्वी आग्रह न रखे। आग्रह से न कुछ समझा जाता है और न कोई समाधान मिलता है।"

माघ कृष्णा ४ को आचार्यश्री ने एक मर्यादा-पत्र तैयार किया। दोपहर में सभी साधुओं के सामने उसका वाचन हुआ। उसके बाद आचार्यश्री ने कहा—"यह

---

१. वि० सं० २००३, माघ कृष्णा ३

मर्यादा-पत्र सबने सुन लिया है। सब इस पर हस्ताक्षर करें। दो दिन की अवधि है।

"विचारो का अभेद व भेद जानने की यह हमारी प्राचीन पद्धति है। समय-समय पर इसका उपयोग होता रहा है।" परिषद् के उठते ही चार[1] साधुओ ने आचार्यश्री से निवेदन किया—"हस्ताक्षर समझ कर करेंगे।" आचार्यश्री ने कहा—"अच्छी बात है।"

दूसरे दिन वह मर्यादा-पत्र साध्वियो को सुनाया और हस्ताक्षर करने का निर्देश दिया गया। दो दिन की अवधि मे उपस्थित ६९ साधुओ मे से ६१ साधुओ और सब साध्वियो ने हस्ताक्षर कर दिये। केवल आठ[2] साधुओ ने हस्ताक्षर नही किये।

दोनो दिनो मे विचार-मन्थन चला, पर विचारो का समन्वय नही हुआ। अवधि पूरी होने को थी। साझ के समय जब उन्हे पुन हस्ताक्षर की याद दिलाई गई तब उन्होंने हस्ताक्षर न करने का विचार प्रकट किया। तब गण की विधि के अनुसार आचार्यश्री ने उनके पास से गण के पुस्तक-पन्ने मगवा लिये। मुनि रगलालजी जाने लगे तो आचार्यश्री ने उन्हे बुलाकर कहा—"आप चले क्यो जाते हैं? मैंने पुस्तकें मगवाई हैं। आपका गण से सम्बन्ध-विच्छेद नही किया है।" मुनि रगलालजी ने कहा—"विचार नही मिलते, तब साथ मे कैसे रह सकते हैं।" आखिर ९ साधु गण से अलग हो गए।[3]

मुनि रगलालजी और नथमलजी बहुत पुराने, विश्रुत और विद्वान सन्त थे। उनका अलग होना विचित्र-सा लगा। कई लोगो ने आचार्यश्री से निवेदन किया—"इन्हे एक बार फिर चिन्तन का अवसर दिया जाए।" आचार्यश्री ने कहा—"इसमे मुझे कोई आपत्ति नही, किन्तु यह कोई आकस्मिक घटना नही है। इसके पूर्व उन्हे अनेक अवसर दिए जा चुके हैं। कोई भी व्यक्ति सहज ही अपने अवयवो को कैसे अलग कर सकता है?"

घटना साधारण नही थी, अत उसका असर भी असाधारण ही हुआ। उस वातावरण से केवल गृहस्थ ही नही, अनेक साधु भी प्रभावित हुए। कुछ समय बाद मुनि छत्रमलजी भी अपने दो सहवर्ती साधुओ के साथ उनसे मिल गए। वातावरण मे एक और उबाल आ गया।

उस समय गगापुर[4] मे लगभग दस हजार यात्री होंगे। सैकडो साधु-साध्वियो की उपस्थिति थी। बम्बई, महाराष्ट्र और मध्यप्रदेश[5] की यात्रा कर दो वर्षो से आचार्यश्री राजस्थान मे आ रहे थे। मर्यादा-महोत्सव का समय निकट था। उपस्थिति

---

१ मुनिश्री नथमलजी (बागोर), नगराजजी (छोटे), रगलालजी और हगामीलालजी।

२ रगलालजी, नथमलजी, सोहनलालजी, नगराजजी, हगामीलालजी, नथमलजी (गडबोर) रतनलालजी, बसन्तीलालजी।

३ वि० स० २०१२ माघ कृष्णा ६ मोहनलालजी (डूंगरगढ) हस्ताक्षर कर चुके थे, फिर भी उनके साथ चले गए।

४ उस समय मध्यप्रदेश।

५ उस समय मध्यभारत।

मे इस घटना को और अधिक महत्त्व मिल गया। आचार्यश्री ने सब साधु-साध्वियो और विशाल जनता की उपस्थिति मे स्थिति[1] का विश्लेषण करते हुए कहा—"मैंने जो कार्य किया है, वह शासन-हित की दृष्टि से किया है। मेरा किसी पर रोष नही है। जो हुआ उससे सन्तुष्ट मैं भी नही हूँ और वे भी नही हैं। सिद्धान्त का प्रश्न उनके सामने है तो मेरे सामने भी। उसकी हत्या वे नही कर सकते तो मैं भी नही कर सकता। आग्रह मे कोई काम बनने वाला भी नही है। जो घटना घटी है, उसका हेतु मेरी दृष्टि मे आग्रह ही है। मैं परिस्थिति को उलझाना नही चाहता। इसलिए किसी भी दृष्टि से उन्हे कष्ट हुआ हो तो मैं उनसे 'खमत-खामणा'[2] करलू ऐसा जी चाहता है[3]।" दूसरे दिन आचार्यश्री उनके स्थान पर पधारे। उनसे 'खमत-खामणा' किए। वह भेद मे अभेद का अनुपम उदाहरण था। वे साधु भी आश्चर्य मग्न थे, जनता भी आश्चर्य चकित थी। पहले कभी ऐसा हुआ या नही, इस प्रकार गण से अलग हुए साधुओ के स्थान पर आचार्य 'खमत-खामणा' करने कभी गये या नही ? ये प्रश्न पूछे जाने लगे। यह सहज भी है। साधारणत वर्तमान को अतीत के दर्पण मे ही देखा जाता है, पर सारा वर्तमान अतीत की पुनरावृत्ति ही नही होता। उसमे कुछ अपना भी होता है। यह आचार्यश्री का अपना ही था। इसमे अहिंसा की स्पष्ट दृष्टि थी।

आचार्यश्री ने दूसरे दिन गगापुर से विहार किया। मुनिश्री धनराजजी, चन्दनमलजी, मैं, बुद्धमल्लजी और नगराजजी उनसे बातचीत करने वहा रहे। हम सब मिले। सौहार्दपूर्ण वातावरण मे बातचीत हुई। किन्तु परिणाम कोई नही निकला।

आचार्यश्री भीलवाडा मे मर्यादा-महोत्सव सम्पन्न कर लाडनू[4] पधारे। थोडे दिन ठहर सुजानगढ पधार गए। वहा से दूसरी बार फिर लाडनू पधारे। उस समय रगलालजी आदि भी वहा पहुँच गए थे। आचार्यश्री ने अपने प्रवचन मे कहा—"मैं जो थोडे ही दिनो के बाद दूसरी बार यहा आया हूँ उसका मुख्य आकर्षण साध्वी चम्पाजी का अनशन है। लोगो के दिमाग स्वतन्त्र हैं। सभव है कई लोग दूसरी कल्पना करते होगे। वह भी मान ली जाए तो क्या आपत्ति है ? शासन-हित हो वहा मैं जाऊ, यह अच्छी बात है। सर्वोपरि बात शासन-हित है। साधु-साध्विया, श्रावक-श्राविकाए चतुर्विध-सघ शासन के पीछे हैं, आचार्य भी शासन के पीछे हैं। शासन का हित हो, वह कार्य करना सबका हित है। शासन से पृथक् हुए साधु यहा आए हुए है, उनके कारण मैं यहा आया हूँ, यह कल्पना भी होती होगी ? भले हो, मेरी भावना मे अहित की बात नही है। मैं तो अब भी यही सोचता हूँ कि उनको गहराई से सोचना चाहिए।

मैंने जो निर्णय किये हैं, वे पूरे सोच-विचार के बाद किये हैं, पुष्ट प्रमाणो के आधार पर किये हैं। मुझे अब भी नही लगता कि मैंने निर्णय करने मे कोई शीघ्रता या भूल की है ? जहा तक सोचने, समझने और समझाने का प्रश्न है, उसके लिए

---

१ माघ वदी १४, गगापुर
२. क्षमा लेना-देना
३ जैन भारती ४।२१
४ चैत्र शुक्ला ३

चिन्तन सदा उन्मुक्त है।

वे अभी मेरे प्रत्यक्ष नही है। परोक्ष मे ही मैं उन्हे कहता हूँ कि वे एक वार फिर सोचे, गहराई से सोचें। जहा तक मेरा व्यक्तिगत प्रश्न है, मैं प्रतिप्ठा आदि के प्रश्नो को प्रधानता नही देता। जहा सघ की नीति का प्रश्न है, वहा मुझे उसी नीति से वर्ताव करना है। मुनि रगलालजी और नथमलजी ने जो सेवाए की हैं, वे मुझसे अज्ञात तो नही है। मैं चाहता हूँ वे एक वार फिर सोचें।[1]

दुपहरी मे आचार्यश्री ने मुनिश्री धनराजजी जो पहले उनसे वातचीत करने का निवेदन कर चुके थे को और मुझे वुलाकर उनसे वातचीत करने को कहा। आचार्यश्री ने कहा—"यदि वे चाहे तो मुझसे वातचीत कर सकते है, आप चाहे तो अकेले उनसे वातचीत करें और चाहे तो इन्हे (नथमलजी) को साथ मे रखें। पर वातचीत का आधार स्पप्ट होना चाहिए। सैद्धान्तिक निर्णयो पर हम आज भी उसी प्रकार स्थिर हैं।"

आचार्यश्री के आदेशानुसार दूसरे दिन हम दोनो उनसे मिले। स्पप्ट वाते हुई। सौहार्द कम नही था। शासन के प्रति उनके मन मे भी तडप थी। पर वे स्थिति को उलझन भरी पा रहे थे। सैद्धान्तिक मतभेद थे ही। आचार्यश्री के वात्सल्य की कमी का अनुभव कर वे असन्तुप्ट भी थे। कई वार के वार्तालापो के वाद उन्होंने वीदासर मे आचार्यश्री से वातचीत करने की इच्छा व्यक्त की। किन्तु कुन्दनमलजी सेठिया आदि के आग्रह पर वह सुजानगढ मे ही शुरु हुई। चैत्र शुक्ला नवमी को मुनि नथमलजी आदि ९ साधु आए और सैद्धान्तिक चर्चाए प्रारम्भ की। आचार्यश्री के वात्सल्य और उनके विनय दोनो ने वातावरण को मधुर वनाए रखा। चैत्र शुक्ला १३ को मुनि रगलालजी गाव के वाहर आचार्यश्री से मिले। नीम की छाया थी। खुला आकाश था। दृश्य मनोरम था। वाल सूर्य की किरणें फूट रही थी। प्रकृति के उस प्रागण मे आचार्यश्री वैठ गए। मुनि रगलालजी आदि भी वैठ गए। आचार्यश्री ने उनसे कहा—"आजकल आमने-सामने होने मे भी सकोच हो रहा है?" वे वोले—"सावद्य प्रवृत्तिया वन्द नही होती, तव क्या करें?" आचार्यश्री ने पूछा—"कौन-सी सावद्य प्रवृत्तिया हो रही हैं, वताइए? वातचीत करिये।" वे फिर वोले—"प्रत्यक्ष रूप मे सावद्य प्रवृत्तिया चल रही है, तव क्या वातचीत की जाए?" मुनिश्री धनराजजी ने कहा—"आप सर्वज्ञ तो नही हैं। आपने निर्णय कर लिया वही ठीक है, इसका क्या प्रमाण? वातचीत अवश्य करनी चाहिए।"

आचार्यश्री ने अपना अभिमत स्पप्ट शब्दो मे रखा। आपने कहा—"मुझे कोई आग्रह नही है। जैसे आपको कुछ प्रवृत्तिया प्रत्यक्ष सावद्य लग रही है, वैसे यदि मुझे लगें तो मैं उसी क्षण उन्हे छोड दू। किन्तु मुझे वैसा[2] लग नही रहा है। तव मैं कैसे छोडू।" वह वार्तालाप भी कोई परिणाम-जनक नही हुआ।

चैत्र शुक्ला १४ को मर्यादा-पत्र का वाचन हुआ। आचार्यश्री ने समूचे

---

१ जैन भारती ४.२१

२ जैन भारती ४।२१

घटनाचक्र का सिंहावलोकन करते हुए कहा—"अपनी ओर से एक प्रयत्न किया गया। उस पर भांति-भांति की प्रतिक्रियाएं हुई हैं। कुछ व्यक्तियों की दृष्टि में यह अपने गण की एक अभूतपूर्व घटना है। गण से अलग हुए व्यक्तियों के साथ इस प्रकार का व्यवहार शायद ही कभी किया गया हो। कुछ लोग कहते हैं—'आचार्यश्री ने पहले उतावली में काम कर लिया, अब स्थिति जटिल बन गई, इसलिए उन्हें झुकना पड़ा।' और भी कई बातें सुनी हैं। यह जाना हुआ था कि लोग तरह-तरह की बातें करेंगे? हमें उससे क्या ? हमने वही किया, जो शासन-हित की दृष्टि से करना था। जिनके लिए प्रयत्न किया, उन्होंने उसका मूल्य नहीं आंका, यह बात भी नहीं है। किन्तु जो अवसर का लाभ उठाना चाहिए था, वह नहीं उठाया गया। हमारा प्रयत्न अब सम्पन्न है।"[1]

आचार्यश्री सुजानगढ़ से विहार कर बीदासर आदि गांवों में पधारे। वहां स्थिति को सम्हाला। आखिर सरदारशहर पहुँचे।[2] मंत्रीमुनि से विचार-विमर्श किया। उन्होंने प्रार्थना की—"आप नई धारणा-प्रणाली को स्थगित करदें तो मैं बहुत कृतज्ञ होऊंगा।" आचार्यश्री ने उसे चिन्तन पर छोड़ दिया।

उन्हीं दिनों मुनिश्री धनराजजी भी डूंगरगढ़ में गण से अलग हो गए। वे पहले रंगलालजी को गण में लाने के प्रयत्न में थे। वैसा न हुआ, तब वे स्वयं उनके साथ चले गए।

जेठ बदी १४ को मर्यादा-पत्र का वाचन हो रहा था। हजारों व्यक्ति उपस्थित थे। मर्यादाओं का वर्णन हो रहा था। गण से अलग हुए व्यक्तियों के सम्बन्ध में चर्चा चली। धारणा-प्रणाली का समर्थन करते हुए आचार्यश्री ने कहा—"वह पूर्वाचार्यों द्वारा आकीर्ण है, अनुमोदित है, उसे सावद्य मानना कहां तक संगत है ? नवीन प्रणाली भी उसी के आधार पर प्रवर्तित है।" इस प्रसंग के बीच में ही मंत्रीमुनि खड़े हो गए। उन्होंने विनम्र प्रार्थना की—"आप नई धारणा प्रणाली को निरवद्य मानते हुए भी स्थगित कर दें तो मुझ पर बड़ी कृपा होगी, कइयों को सन्तोष भी होगा।"

आचार्यश्री ने कहा—"आप शासन के भक्त हैं, मूर्तिमान विनय हैं, इसलिए मैं आपकी बात को नहीं टाल सकता। आपके अनुरोध पर मैं नवीन धारणा प्रणाली को अनिश्चित काल के लिए स्थगित करता हूं।"

इस पर मंत्रीमुनि ने बहुत हर्ष प्रकट किया। वातावरण मधुरिमा से ओत-प्रोत हो गया।

भंवरलालजी दूगड़ बीदासर गये। वहां मुनि नथमलजी आदि से बातचीत की। नई स्थिति से उन्हें अवगत कराया और कहा—"आचार्यश्री ने यह फिर अवसर दिया है, आप लोगों को इस पर चिन्तन करना चाहिए।" उन्होंने पूछा—"आचार्यश्री ने हमारे लिए कोई संकेत किया है ?" भंवरलालजी ने कहा—"नहीं।" वे बोले—

---

१. जैन भारती ४।२१

२. जेठ बदी ११

"अनिश्चित काल के लिए स्थगित की है, इसमे सन्देह रहता है। हम सब एकत्रित भी नही हैं। सब मिलकर ही कुछ निर्णय करेंगे।"

जेठ शुक्ला ११ को भवरलालजी दूगड राजलदेसर जा रहे थे। उन्होंने आचार्यश्री का अभिप्राय जानना चाहा। उस समय मत्रीमुनि वही थे। मुनिश्री सोहनलालजी आ गए थे। आचार्यश्री से निवेदन किया कि आप उन्हे यहा आने का कोई सकेत दें। आचार्यश्री ने कहा—"मैं शाब्दिक सकेत तो क्या दू ? उन्हे मेरे भावो को ही परखना चाहिए।" मत्रीमुनि के प्रति भी उनके मन मे थोडा सन्देह उत्पन्न हो गया था। उन्होंने भी अपनी भावना को स्पष्ट करते हुए कहा—"मेरे मन मे उनके प्रति कोई दुर्भावना नही है। वे यहा आए तो हित ही होगा, अहित की कोई सभावना नही है।"

भवरलालजी को पर्याप्त सबल मिला। वे और उनके पिता सुमेरमलजी राजलदेसर गए। इधर मैं और मुनिश्री बुद्धमल्लजी भी बीदासर से राजलदेसर पहुँच गए थे।

उन दिनो राजलदेसर चर्चा का केन्द्र बन गया था मुनि रगलालजी आदि वहा आए हुए थे। मुनि धनराजजी भी डूगरगढ से वहा आ गए थे। भवरलालजी ने उन्हे सरदारशहर आने के लिए कहा। उन्होंने आचार्यश्री की भावना जानने का यत्न किया और भवरलालजी ने सारी बात उन्हे बता दी। उन्होंने आने की इच्छा प्रगट की और तीन बातो पर बल दिया—

(१) आचार्यश्री की ओर से कोई वात्सल्यपूर्ण सकेत मिलना चाहिए।
(२) आषाढ शुक्ला २ तक कोई न कोई निर्णय हो जाना चाहिए।
(३) यदि परस्पर सामञ्जस्य न हो तो दोनो ओर से भ्रान्त वातावरण उत्पन्न न किया जाए।

भवरलालजी ने उनके विचार आचार्यश्री के सामने प्रस्तुत किये। आचार्यश्री ने कहा—"उनकी तीनो बातें अनुचित नही लगती। वे शासन से पृथक् होकर भी उसके हित की कामना करते हैं, यह स्थिति उनके प्रति मेरे मन मे आकर्षण उत्पन्न कर रही है। उनके यहा आने को मैं हितकर मानता हूँ। वे गण के अग बनकर रहे, इस दृष्टि से उन से बात करने का विचार है। उन्हे भी सदेह और आग्रह नही रखना चाहिए।"

आचार्यश्री के शब्द बडे ही हृदयग्राही थे। उन्हे प्राप्त कर जेठी पूर्णिमा को भवरलालजी आदि ४ व्यक्ति फिर राजलदेसर गए। आचार्यश्री से हुई वार्ता का विवरण उन्हे दिया। वे सरदारशहर आने को राजी हो गए। उस समय अधिकाश व्यक्तियो की भावना थी कि इस विग्रह को शान्त कर देना चाहिए। अन्यथा बडी कठिनाइया उत्पन्न होगी। आचार्यश्री के सामने शासन-हित का प्रश्न सर्वोपरि था ही। वे भी उसे मुख्यता दे रहे थे। यही एक ऐसा समाधान था, जो हजारो समस्याओ को समाहित कर सकता था।

आषाढ वदी ६ को मुनि रगलालजी आदि पन्द्रह साधु वहा आ गए। १० को वे आचार्यश्री के पास आए। बातचीत चली। सार कुछ नही निकला। तर्कों से सब ऊब गये थे। अब केवल सामजस्य का ही मार्ग ढूढना था। उस समय मत्रीमुनि ने कहा—

"इन तर्क-वितर्कों से कोई समाधान नहीं होगा। ऐसा करें कि तुम सब पुरानी धारणा-प्रणाली को श्रद्धा से निरवद्य मान लो और मैं आचार्यश्री को विनम्र निवेदन करूंगा कि वे नई धारणा-प्रणाली को केवलीगम्य करने की कृपा करें।"

दूसरे दिन मुनि नथमलजी आदि फिर आए। प्रारम्भ में ही मुनि वनराजजी ने मंत्रीमुनि के शब्दों का आलम्बन लेते हुए कहा—"पुरानी धारणा-प्रणाली को श्रद्धा से निरवद्य स्वीकार करते हैं। यदि आप नवीन धारणा-प्रणाली को केवलगम्य कर दें तो ?" अब सारी स्थिति का भार आचार्यश्री पर था। वे इस प्रश्न को छूने के लिए भी तैयार नहीं थे। पर उनकी इच्छा अपनी नहीं होती। उन्हें संघ की दृष्टि से ही देखना होता है। इधर मंत्रीमुनि आगे सरके। आचार्यश्री के पैर पकड़ने का यत्न करते हुए बोले—" मेरी लाज आपको रखनी होगी। जो शब्द कल मेरे मुंह से निकल पड़े उनको निभाना होगा। मुझ बूढ़े की यह बात स्वीकार करनी होगी।" आचार्यश्री ४-५ मिनट तक बड़े असमञ्जस में रहे। उस समय उनके भावों का उतार-चढ़ाव देखते ही बनता था। वे शासन-हित के प्रश्न को टालना नहीं चाहते, मंत्रीमुनि के इतने अनुरोध को भी ठुकराना नहीं चाहते थे। अपनी ओर से वातावरण को कसना भी नहीं चाहते थे। स्थिति के उलझने का भार अपने ऊपर लेना भी नहीं चाहते थे, तो जिस प्रश्न के लिए इतना सहा, उसे एक ही क्षण में छोड़ देना भी नहीं चाहते थे। अन्तर्द्वन्द्व चला। आखिर आचार्यश्री ने निर्णय कर लिया और मंत्रीमुनि की ओर संकेत करते हुए कहा—"क्या इस एक बात से (नई धारणा-प्रणाली को 'केवलीगम्य' कर देने से) सारी समस्या सुलझ जाएगी ? समूचा विग्रह शान्त हो जाएगा ?" बीच में ही मुनि वनराज जी बोले—"यह कैसे होगा ? एक प्रश्न शेष होगा ? शेष सब प्रश्न तो रहेंगे ही।" आचार्यश्री ने कहा—"क्या मंत्रीमुनि इतने भोले हैं, जो एक प्रश्न के लिए इतना भार उठाए ?" आचार्यश्री ने उनसे पूछा—"क्या आप एक बोल के लिए इतना प्रयत्न कर रहे हैं ?" वे बोले "नहीं। मैं तो दूध में मिश्री मिलाना चाहता हूँ, फिर प्रश्न कौन-सा शेष रहेगा ?" मंत्रीमुनि मुड़े और उन साधुओं की ओर देखकर बोले—"यदि तुम शासन में होते तो मैं तुम्हारे पैर पकड़कर तुम्हें मना लेता। पर करूं क्या ? अब भी मैं तुम्हें कहता हूँ कि तुम सोचो, इस अवसर को यों ही मत जाने दो।"

मंत्रीमुनि के इस वाक्य से वे सब चिन्तन की मुद्रा में हो गए। मुनिश्री सोहनलालजी ने लक्ष्य को ठीक बींधा और बोल उठे—"अब आप देख क्या रहे हैं ? ऐसा अवसर फिर कब आएगा ? प्रश्न कुछ नहीं है। जो हैं उन्हें आचार्यश्री के चरणों में चढ़ा दो।" वातावरण में एक मोड़ आ गया। उसकी उपेक्षा करना सहज नहीं रहा। वे बोले—"रंगलालजी स्वामी यहां नहीं हैं। सहसा यह कैसे हो ?" मुनिश्री सोहनलालजी ने कहा—"गुरुदेव ! आपकी आज्ञा हो तो मैं वहां जाऊं और मुनि रंगलालजी को स्थिति से अवगत करूं।" आचार्यश्री ने कहा—"भले जाओ।" वे गए और मुनि नथमलजी भी गए। मुनि रंगलालजी को सारी स्थिति समझाई और उन्हीं पैरों उन्हें साथ ले वापस आ गए। हजारों की उत्सुक भीड़ बाहर खड़ी थी। अब उनके लिए भी भीतर प्रवेश निषिद्ध नहीं रहा। गोठीजी का हॉल और मैदान खचाखच भर गया। आचार्यश्री

ने नीरवता को भग करते हुए कहा—"आज दो दिन हो गए। वातचीत चली, पर उसमे सामञ्जस्य का कोई सकेत नही मिला। आज दो-ढाई घटे तक भी वही स्थिति थी। किन्तु बाद मे स्थिति ने करवट ली और जो होने का था वही हुआ है।"

मैंने भवरलाल से पहले ही कहा था—'काम बने तो ऐसा बने, जो हमारी गौरवमय परम्परा के अनुरूप हो, जिसे दुनिया देखे। वे आत्म-समर्पण करें और मैं उदारता।" मैं जनता को वही सुखद समाचार सुना रहा हूँ कि अब वही हो रहा है। ये पन्द्रह साधु अपने प्रश्नो को मेरे चरणो मे समर्पित कर रहे हैं और मैं इन्हे उदारता का आश्वासन दे रहा हूँ।" सभी लोग हर्ष मे नाच उठे। जैन शासन की जय, भिक्षु शासन की जय, के नारो मे आकाश गूज उठा।

उस समय मुनि नथमलजी खडे हुए और पन्द्रह साधुओ का प्रतिनिधित्व करते हुए बोले—"आचार्यश्री ने बडी विशालता दिखाई है। मेरे और रगलालजी स्वामी आदि सबके मन मे शासन के लिए वेदना थी, तडप थी। मत्रीमुनि ने बडी दूरदर्शिता का परिचय दिया। उनकी वाणी ने हमारी सारी वेदनाओ को गगा-स्नान करा दिया। अब हम आचार्यश्री के चरणो मे हैं। हमारे सारे प्रश्न आचार्यश्री के चरणो मे समर्पित हैं। पुरानी धारणा-प्रणाली को, जो परम्परा से चालू है, हम श्रद्धा से निरवद्य मानते हैं।"

आचार्यश्री ने घोषित किया—"मैं मत्रीमुनि मगनलालजी स्वामी के अनुरोध पर नई धारणा-प्रणाली को 'केवलीगम्य' करता हूँ।" समस्या सुलझ गई। मत्रीमुनि ने निवेदन किया अब आप इन्हे शासन की विधि के अनुसार गण मे सम्मिलित करें।

मुनि रगलालजी आदि पन्द्रह सन्त खडे हो गए। रगलालजी ने कहा—"आप शासन की रीति के अनुसार हमे गण मे सम्मिलित करें।" आचार्यश्री ने उनसे पूछा—"जो साधु पाच मास और पाच दिन तक शासन से पृथक् आपके साथ रहे हैं, उन्होंने आपकी जानकारी मे कोई दोष-सेवन तो नही किया ?"

मुनि रगलालजी—"नही।"

आचार्यश्री—"शासन की विधियो का पालन किया ?"

मुनि रगलालजी—"हा।"

आचार्यश्री—कोई विशेष बात पूछनी होगी तो फिर पूछूगा। इतने दिन गण से अलग रहे, उसके लिए सब मिच्छामि दुक्कड (मेरे पूर्वकृत दुष्कृत मिथ्या हो) का उच्चारण करें। पन्द्रह सन्तो ने उसका उच्चारण किया और वे सब गण के अग बन गए। आचार्यश्री तुरन्त उठे और मुनिश्री रगलालजी आदि दीक्षा पर्याय मे ज्येष्ठ साधुओ को वन्दन किया। उन्होने आचार्यश्री को अपनी श्रद्धा समर्पित की और शेष सन्तो ने आचार्यश्री को वन्दना की। वातावरण के कण-कण मे हर्ष उछल पडा। परस्पर के मिलन ने अतीत को भुला-सा दिया। उस समय यह भान नही रहा कि ये कभी अलग भी थे। अनेक लोगो ने हर्षाभिव्यक्तिया की और शासन की महिमा पर प्रकाश डाला।

अन्त मे आचार्यश्री ने भीलवाडा महोत्सव के अवसर पर गाई हुई गीतिका के

दो पद्य कहे । वे बड़े ही मार्मिक थे

समझ भेद को समझौते से, हिलमिल कर सुलझाए,
बिछुड़े दिल को हो यदि सभव, अपने साथ मिलाए,
शासन की सुषमा दुनिया के कोने-कोने फैलाए ॥१॥
अनुशासन का भग अगर हो, समुचित कदम उठाए,
आखिर नाक भाल से नीचे रहकर ही शोभाएं,
शासन की सुषमा दुनिया के कोने-कोने फैलाए ॥२॥

आचार्यश्री ने भवरलालजी के परिश्रम और सुमेरमलजी के सहयोग की सराहना की । मुनिश्री नथमलजी के विवेक को प्रशस्त बताया । बाहर से वातावरण में तनाव था, अन्तर मे अलगाव नही था । यह सही मार्ग है । अन्तर मे तनाव और बाहर से कृत्रिम प्रेम रहे, यह सही मार्ग नही है ।

बाहरी तनाव अब समाप्त हो गया है । अहिंसा के प्रति मेरी श्रद्धा थी, वह और पुष्ट हुई है । मेरा दृढ निश्चय है कि उसके सिवाय जीवन की प्रगति का दूसरा कोई विकल्प नही है । यह सघर्ष शान्ति मे परिणत हुआ है, उसका सारा श्रेय अहिंसा को ही है । उस समय हिंसा मे विश्वास रखने वाले कुछेक व्यक्तियो व सामयिक सगठनो ने स्थिति को उलझाने के अनेक प्रयत्न किए, पर अन्त मे वे सारे धूमिल हुए । उनका परिस्थिति पर कोई प्रभाव नही पड़ा ।

जो प्रश्न आचार्यश्री के चरणो मे समर्पित किए थे, उनके समाधान का भार आचार्यश्री ने हम पाच साधुओ[1] पर डाल दिया । हमने चातुर्मास मे उन पर चर्चा चलाई और परिणाम पर पहुंच गए । महोत्सव के अवसर पर सब साधु एकत्रित हुए । आचार्यश्री के आदेशानुसार पन्द्रह साधुओ मे उनका वाचन हुआ । विचार-विमर्श चला । आखिर एकमत हो हम मत्रीमुनि के पास गए । उन्होने वह आवेदन-पत्र आचार्यश्री को समर्पित किया । मत्रीमुनि बोले—"ये सब एकमत होकर यह पत्र आपको भेंट कर रहे हैं । प्रार्थना करना हमारा कर्तव्य है । अब आप जो निर्णय देंगे, वही हमे मान्य होगा ।"

आचार्यश्री ने उस पत्र पर दो दिन तक चिन्तन किया । फिर साधु-साध्वियो की अन्तरग-परिषद् मे उसका वाचन किया और उसे अपनी मान्यता दे दी । इस प्रकार एक दीर्घकालीन अन्तरग सघर्ष का इस सरस वातावरण मे परिसमापन हुआ ।

आचार्यश्री मे चिन्तन है, साहस है और कार्य-क्षमता है । जहा यह त्रिवेणी-सगम होता है, वहा सघर्ष की उर्मिया उठें, उसमे आश्चर्य नही है । इस अध्याय मे कुछेक सघर्षो का मैंने उल्लेख किया है । इन दस वर्षों मे बहुत कम समय ऐसा बीता होगा, जिसमे सघर्ष की चिनगारिया न उछली हो । रेखा पर चलने वालो के सामने सघर्ष नही आते । आचार्यश्री रेखाओ के निर्माता हैं । सघर्ष तो उनके कर्तृत्व के सहज परिणाम हैं ।

---

१. नथमलजी स्वामी, डूंगरमलजी स्वामी, सोहनलालजी स्वामी, बुद्धमल्लजी स्वामी और मैं ।

कालकाचार्य के लिए लिखी गई ये पक्तिया आचार्यश्री के जीवन के लिए भी उतनी अर्थवान् हैं—"गर्दभ राजोछेदक कालकाचार्य के जीवन मे साहस का, पराक्रम का तत्त्व स्पष्ट दिखाई देता है। वे कोई असाधारण व्यक्ति थे। उन्होने जव देखा कि सूत्र नष्ट होते जा रहे हैं, तव उन्होंने अनुयोग ग्रन्थो की रचना की। वृहत्काल, चूर्णि और टीका के अनुसार उनके अनुयोग को उनका शिष्य समुदाय सुनता नही था। क्यो ? अनुयोग के यहा दो अर्थ हैं—उपदेश-प्रवचन और आर्य वालक के रचे हुए अनुयोग ग्रन्थ जिनका व्याख्यान आप करते होंगे। हम सुनते हैं कि आचार्य काल के शिष्य प्रव्रज्या मे स्थिर नही रहते थे ? क्यो ? क्या इन सव निर्देशो से यह सूचित नही होता कि काल के क्रान्तिकारी आसाधारण खयाल और कार्य पुराने रास्ते को छोडकर नए रास्ते पर चलने के साहस इत्यादि से सकुचित मनोवृत्ति वाले और प्रगति विरोधी तत्त्व नाराज थे। हरेक मजहव की तवारिख मे हम देखते हैं कि वडे-वडे महात्माओ को ऐसे विरोध अपने जीवन मे सहन करने पडे, यद्यपि वे आगे चलकर युग-पुरुष माने गए।[1]

आचार्यश्री ने २००९ फाल्गुन कृष्णा २ को साधु-साध्वियो की परिषद् मे एक वक्तव्य दिया। उसमे आपने परिस्थितियो का स्पष्ट उल्लेख किया है—"आज मैं अपने पिछले ३८ वर्षों की स्मृति मे ओत-प्रोत हो रहा हूँ। मेरे ग्यारह वर्ष गृहस्थ जीवन मे वीते। उसके वाद का मेरा एकादश वर्षीय जीवन गुरुकुल-वास का जीवन है। वह मुझे आज भी वहुत याद आता है। कितना मधुर था वह जीवन ? वडे साधुओ का मुझे कितना प्यार प्राप्त था। छोटे साधु मेरे प्रति कितना विनयपूर्ण व्यवहार करते थे। वे मेरे इगित को समझकर चलते थे। मेरे सहपाठी मुझे कितनी ऊची निगाह से देखते थे। कभी-कभी हम शासन के भविष्य के वारे मे सोचा करते थे। वह वडा मधुर समय था, उसकी पुनरावृत्ति होने की नही।

गुरुदेव की जो मेरे ऊपर कृपा थी, मैं कह सकता हूँ वह कार्य-जन्य नही, किन्तु सस्कार-जन्य थी। मैंने कालूयशोविलास मे कहा है —

> **हो गुरु गुण मेहरा, मैं मिहनत दातार जो**
> **आप भणी आजीवन, राज रहावियो हो राज**
> **हो म्हारा शिर सेहरा, तुस समगुरु दिलदार जो**
> **पामर ने अजरामर, सुजश पमावियो हो राज।**

जब वाईस वर्ष की अवस्थामे मेरे कन्धो पर शासन का समूचा भार आया, तव सभी साधु-साध्वियो का कितना सहयोग रहा, यह सभी जानते हैं। उस समय मन्त्रीमुनि का जो सहयोग मिला, उसे मैं कभी नही भूल सकता। कुछ वर्षों तक कार्यक्रम समतल रहा। वह स्थिरता का समय था। मेरे व सघ के विद्या-विकास का समय था। उसके वाद एक भूचाल आया। उसको मैंने अपने ढग से कुछ सहकर सभाला। यह गत चार वर्षों का समय एक उत्क्रान्ति का समय था। मेरी लम्बी यात्राए हुई। उनमे कडवे-मीठे अनेक प्रकार के अनुभव हुए। मन्त्रीमुनि मेरे साथ नही थे। मैं इस समय की

तुलना जयाचार्य के समय से करूगा और वह सर्वथा उचित है । उस समय एक क्रान्ति हुई, सघर्ष छिडा, वडे उतार-चढाव आए । साधु-सघ मे भी भारी ऊहापोह हुआ । बडी चर्चाए चली । जयाचार्य को बहुत सहना पडा, परिवर्तन लाना पडा, जूझना पडा, न जाने क्या-क्या करना पडा । ठीक वही सब कुछ मुझे करना पड रहा है ।

साधु-साध्वियो ! मैंने जो कुछ किया, उसमे मेरी आत्मा-साक्षी है, अपने सिद्धान्त, मर्यादा और परम्परा के प्रतिकूल जो कुछ किया है, ऐसा मुझे नही लगता । फिर भी कुछ साधुओ ने उसे उस रूप मे प्रचारित किया है । कुछ साधुओ ने वडी गल्तिया भी की हैं । वे अक्षम्य हैं, फिर भी मैं उन्हे क्षमा दूगा । क्योकि मेरी दृष्टि मे उन्होने गलत उद्देश्य से व शासन-अहित की भावना से ऐसा नही किया । किन्तु जिस रूप मे किया वह प्रकार सही-नही था । हमारा प्रकार विवेकपूर्ण होना चाहिए और यह विश्वास भी होना चाहिए कि सिद्धान्त की हत्या कर कोई कार्य नही किया जाएगा ।"[१]

सुकरात की तरह आचार्यश्री को न कही न्यायालय मे उपस्थित होना पडा और न ही आत्म-निवेदन करना पडा, पर विरोध उनसे कही अधिक सहा है । बाहरी विरोध की अपेक्षा आन्तरिक विरोध सहना कठिन होता है । आचार्यश्री ने उसे भी सहा है । सही मार्ग पर चलने मे आस्था है और बहुतो को साथ लेकर चलने की क्षमता है, इसलिए सहने का भी अभ्यास है । प्रश्न है कि एक महान् आचार्य का उन्ही के शिष्यो द्वारा विरोध क्यो ? तेरापथ का अनुशासन प्रिय और श्रद्धा प्रधान गण है । उसकी परम्परा मे पले हुए लोग अपने आचार्य का विरोध करें, यह और भी आश्चर्य की बात है ।

इसका पहला उत्तर तो यही है कि महान् की महानता वर्तमान मे कम पहचानी जाती है । आने वाली पीढी उन्हे जो स्थान देती है, वह वर्तमान पीढी नही दे पाती । उन्हे अपनी नई कृतियो के कारण सन्देह और सघर्ष की स्थिति मे से गुजरना पडता है ।

दूसरी बात—आचार्यश्री धर्म को व्यापक दृष्टि से देखते हैं । आप जाति आदि के बन्धनो को महत्त्व नही देते । प्राचीनता के प्रति विद्रोह नही है तो नवीनता का मोह भी नही है । आप मे आग्रह है तो अनाग्रह भी कम नही है । जीवन कुछ ऐसा है, जिसे एक व्यक्ति सतुलित कह सकता है तो दूसरे की कसौटी मे विरोधा-भासो से भरा हुआ है । जिन्हे विरोधाभास दीखा, वे विरोध करने लगे । आचार्यश्री परिवर्तन को ही मान्यता देते, तो सम्भव है आधुनिक विचारक उन्हे अपना पूर्ण समर्थन देते किन्तु आचार्यश्री वैसा करना उचित नही मानते । इसलिए उनका विरोध भी मोल लिया ।

आचार्यश्री परम्परा की स्थितिशीलता को ही मान्यता देते तो सम्भव है, पुराने विचारो के लोग उन्हे अपना समर्थन देते रहते, पर आचार्यश्री ने वैसा भी नही किया, इसलिए उनकी ओर से भी विरोध मिला ।

आचार्यश्री ने जो परिवर्तन किए, उनके लिए आपने यही कहा कि ये शाश्वत सत्य

---

१ वि० स० २००६ फा० शु० २ सरदारशहर ।

सिद्धान्त और हमारी परम्परा के प्रतिकूल नही है। आपने एक ओर सम्प्रदाय की परम्परा को निभाने का यत्न किया है और दूसरी ओर नये तत्त्वो को उसमे सम्मिलित करने का साहस किया है। कुछ आलोचको की दृष्टि मे यही आपके जीवन का आलोच्य पक्ष है। जैनेन्द्रजी बहुत बार कहते है—"आचार्य रहने से काम नही चलेगा। अब आपको तीर्थंकर बनना है।" तीर्थंकर जो कहता है, वह स्वत प्रमाण होता है। उनकी वाणी की प्रामाणिकता किसी शास्त्र के द्वारा साधी नही जाती। आचार्यश्री की वाणी तब प्रमाण मानी जाती है, जब वह शास्त्र की मुद्रा मे मुद्रित हो जाए ? पूर्वज आचार्यो ने जो कहा तथा जन-साधारण मे जो धारणा प्रचलित है, उन सबके प्रतिकूल न हो। चिन्तनशील व्यक्ति यह मानने को तैयार नही होता कि सत्य जो है अथवा करणीय जो है वह सब शास्त्र की भाषा मे बन्ध जाता है। फिर भी जो सम्प्रदाय और परम्परा को साथ लिए चलता है और शास्त्रो की उपादेयता मे विश्वास करता है, उसे फूल के साथ काटे की चुभन भी सहनी होती है। उसे सह लिया जाए तो आचार्यत्व मे भी तीर्थंकरत्व का उदय हो जाता है।

: २ :

तेरापंथ के आचार्य

तेरापंथ की व्याख्या

आचार्यश्री कहा करते हैं—"मनुष्य सबमे पहले मनुष्य है। फिर वह और-और है। कार्य-विभाजन की दृष्टि मे क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य आदि हैं, भौगोलिक दृष्टि मे भारतीय और अभारतीय हैं। सम्प्रदाय की दृष्टि से—जैन, बौद्ध, वैष्णव आदि हैं।" आचार्यश्री को उन्ही की वाणी के आलोक मे देखा जाए तो वे सबसे पहले तेरापथ के आचार्य हैं, फिर और-और हैं। चरित्रोपासना की दृष्टि से वे अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक हैं। श्रुतोपासना की दृष्टि से वे कवि और वक्ता हैं। साम्य-योग की आराधना की दृष्टि से वे केवल धर्माचार्य है। अनुशासन की दृष्टि से वे शास्ता हैं। तेरापथ के प्रति उनकी आस्था के पीछे ये ही तत्त्व कार्य कर रहे हैं। जहा चरित्रोपासना, श्रुतोपासना, साम्ययोग और अनुशासन—ये चार तत्त्व हैं वही उनका तेरापथ है और जहा ये नही है वहा उनका तेरापथ नही है।

तेरापंथ और आचार्यश्री की व्याप्ति

जनसाधारण की दृष्टि मे तेरापथ कोरा सम्प्रदाय है। आचार्यश्री की दृष्टि मे तेरापथ धर्म-शक्ति का अविरल स्रोत है। उसका आत्म-केन्द्रित अनुशासन सचमुच अचरज की वस्तु है। उसका साम्ययोग उसके असाम्प्रदायिक रूप की परिणति है। उसके अनुसार सत्य दो नही हैं और उसकी उपलब्धि के साधन भी दो नही हैं। अमृत-तत्व की आराधना करने वाले सब धार्मिक हैं, अविभक्त हैं भले फिर वे सम्प्रदाय के नाम से विभक्त हो। इस व्यापक दृष्टिकोण ने ही आचार्यश्री को सबसे पहले तेरापथ के आचार्य बना रखा है और इसी दृष्टिकोण ने उन्हे अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तक बनाया है। तेरापथ को पाकर आचार्यश्री तुलसी और आचार्यश्री तुलसी को पाकर तेरापथ गौरवान्वित हुआ है। भारत के सर्वोच्च न्यायाधीश श्री बी० पी० सिन्हा ने जैसे कहा, "मेरी समझ मे तेरापथ की सबसे बडी देन आचार्यश्री तुलसी है, जिन्होंने ठीक समय पर सारे देश मे नैतिक जागरण का शख फूका है।"[1]

आचार्यश्री के माध्यम से असख्य व्यक्तियो ने तेरापथ को समझा है। मैं भी

---

१ तेरापथ द्विशताब्दी के अवसर पर प्रदत्त लिखित वक्तव्य से।

उन्ही मे से एक हूँ। तेरापथ के माध्यम से आचार्यश्री को कितनो ने समझा—मैं नही कह सकता।

क्रान्त दृष्टिकोण

जैनधर्म भारतवर्ष का एक प्राचीनतम धर्म-तीर्थ है। उसका इतिहास जितना प्राचीन है, उतना गौरवमय है। जितना गौरवमय है, उतना ही प्रच्छन्न है। प्रच्छन्न इसलिए है कि उसका वर्तमान तीर्थ समृद्ध नहीं है। वह अनेक भागो मे विभक्त है। प्रधान विभाग दो हैं—श्वेताम्बर और दिगम्बर। कपडा पहिनने मात्र से कोई मुनि नही और न पहिनने मात्र से कोई अमुनि नही होता। फिर भी एक का आग्रह है कि कपडा पहिना जाए और दूसरे का आग्रह है कि कपडा न पहिना जाए। इसी आधार पर दो भाग हो गए—श्वेताम्बर और दिगम्बर।

श्वेताम्बर-शाखा मे तीन मुख्य सम्प्रदाय हैं—सवेगी, स्थानकवासी और तेरापथ। सवेगी मूर्त्ति-पूजा मे विश्वास करते है। स्थानकवासी और तेरापथ का मूर्त्ति-पूजा मे विश्वास नहीं है। स्थानकवासी सम्प्रदाय अनुशासन और सघीय एकता के लिए प्रारम्भ मे उतना सजग नही रहा, जितना कि तेरापथ रहा है। स्थानकवासी सम्प्रदाय की पुरानी समाज-व्यवस्था मे परिपोषित दान और दया मे आस्था है, तेरापथ की उसमे आस्था नही है। समाज का जीवन सापेक्ष होता है, इसलिए सहयोग शुद्ध सामाजिक तत्त्व है। समाज के किसी वर्ग को दीन-हीन मान उसे दान देने और दया करने की जो मनोवृत्ति बनी है, वह विकृत-व्यवस्था का परिणाम है। वह धार्मिक तो क्या सामाजिक भी नहीं है।

तेरापथ के आचार्यो ने समाज-व्यवस्था को समाज-शास्त्रियो के लिए ही रख छोडा है। उसे धर्म द्वारा नियत्रित नही किया। इसलिए समाज की प्रवृत्तियो के क्षेत्र मे उसकी भाषा निषेधात्मक होती है। जो समाज-सम्मत नही है, वह न किया जाए—इसका निर्देश धर्माचार्य ही दे सकते हैं, किन्तु क्या किया जाए? इसके निर्देशन का अधिकार एक धर्माचार्य को नही, किन्तु समाज-शास्त्री या समाज के नेता को हो सकता है। मनु-स्मृति आदि स्मृति-ग्रन्थ समाज की आचार-सहिता और दड-विधि के रूप मे मान्य होते तो आधुनिक भारत बहुत तेजी से बदल जाता। परन्तु जन-साधारण की मान्यता मे वे धर्म-ग्रन्थ हैं। उनकी वाणी अपरिवर्तनीय है, इसलिए अधिकाश लोग परिवर्तन के विरुद्ध हैं। तेरापथ के अनुसार धर्म के मौलिक रूप ही अपरिवर्तनीय है। लोक-व्यवस्था के नियम परिवर्तनीय है। इसलिए वे अहिंसा-धर्म मे समर्थित नही हैं और विहित भी नही है। समाज की सामयिक उपयोगिता जो है, इसलिए वे निषिद्ध भी नहीं हैं। तेरापथ ने अहिंसा और हिंसा के मिश्रण को कभी मान्य नहीं किया। जीवन की आवश्यकता को कभी आत्मा का धर्म नही माना। इस सिद्धान्त की समीक्षा मे सर्वोच्च न्यायाधीश श्री बी० पी० सिन्हा ने कहा था—"आचार्य भिक्षु का यह मन्तव्य मुझे बहुत ही अच्छा लगा कि हिंसा मे यदि अहिंसा हो तो जल-मन्थन से घृत निकल आए, वे व्यापक अहिंसा के उपासक थे। उन्होंने उपासना मे और सिद्धान्त मे अहिंसा

को कहीं खण्डित नहीं होने दिया। बहुत बार लोग अहिंसा को तोड़-मरोड़कर परिस्थितियों के साथ उसकी संगति बैठाते हैं, पर यह ठीक नहीं। अहिंसा एक शाश्वत सिद्धान्त और आदर्श है। यदि हम उस तक नहीं पहुँच पा रहे हैं तो हमें अपनी दुर्बलता को समझना चाहिए। हिंसा और अहिंसा का कोई तादात्म्य नहीं हो सकता। आचार्य भिक्षु का यह कथन बहुत यथार्थ है—पूर्व और पश्चिम की ओर जाने वाले दो मार्गों की तरह हिंसा और अहिंसा कभी मिल नहीं सकतीं।"[१]

तेरापंथ परिग्रह के सम्बन्ध में भी बहुत सतर्क रहा है। उसकी पवित्रता का यही मूलमंत्र है। श्री वी० पी० सिन्हा के शब्दों में—"तेरापंथ की यह बड़ी विशेषता है कि इसके साथ संग्रह का लगाव नहीं है। मठ आदि के रूप में न यहां अचल सम्पत्ति है और न कोई चल सम्पत्ति ही है।"[२]

तेरापंथ का उद्भव आचार-शुद्धि के लिए हुआ था। देश-काल के परिवर्तन के साथ परिवर्तन होता है, इस तथ्य को आचार्य भिक्षु स्वीकार करते थे। पर देशकाल के परिवर्तन के साथ मौलिक आचार का परिवर्तन होता है, यह उन्हें मान्य नहीं था। आचार-शुद्धि के लिए विचार-शुद्धि और व्यवस्था—दोनों स्वयं प्राप्त होते हैं। विचार-शुद्धि का सिद्धान्त आगम सूत्रों से मिला और व्यवस्था का सूत्र देश-काल की परिस्थितियों के अध्ययन से मिला। आचार्य भिक्षु ने देखा—वर्तमान के साधु शिष्यों के लिए विग्रह करते हैं, उन्होंने शिष्य बनाने की परम्परा को समाप्त कर दिया। तेरापंथ का विधान किसी भी साधु को शिष्य बनाने का अधिकार नहीं देता।

तेरापंथ के साधु-साध्वियां इसलिए संतुष्ट हैं कि उनके शिष्य-शिष्याएं नहीं हैं।

तेरापंथ के साधु-साध्वियां इसलिए संगठित हैं कि उनमें शिष्य-शाखा का प्रलोभन नहीं है।

तेरापंथ एक आचार्य के अनुशासन में इसलिए प्रगतिशील है कि वह छोटी-छोटी शाखाओं में बंटा हुआ नहीं है।

अनुशासन और व्यवस्था

तेरापंथ का विकास अनुशासन और व्यवस्था के आधार पर हुआ है। साधना के क्षेत्र में बल-प्रयोग के लिए कोई स्थान नहीं है। जो होता है, वह हृदय की पूर्ण स्वतंत्रता में होता है। आचार्य अनुशासन व व्यवस्था देते हैं, समूचा संघ उनका पालन करता है। उनके मध्य में श्रद्धा के अतिरिक्त दूसरी कोई शक्ति नहीं है।

आचार्यश्री तुलसी के शब्दों में—"श्रद्धा और विनय हमारे जीवन-मंत्र हैं। आज के बौद्धिक जगत् में इन दोनों के प्रति तुच्छता का भाव पनप रहा है। वह अकारण भी नहीं है। बड़ों में छोटों के प्रति वात्सल्य नहीं है। बड़े लोग छोटे लोगों को अपने अधीन ही रखना चाहते हैं। इस मानसिक द्वन्द्व में बुद्धिवाद अश्रद्धा और अविनय को

---

१. तेरापंथ द्विशताब्दी के अवसर पर प्रदत्त लिखित वक्तव्य में।

२. वही।

ओर मुड जाता है। हमारा जगत आध्यात्मिक है। उसमे छोटे-बडे का कृत्रिम भेद है ही नही। अहिंसा हम सब का धर्म है। उसकी सीमा मे प्रेम और वात्सल्य के सिवाय और है ही क्या ? जहा अहिंसा है, वहा पराधीनता हो नही सकती। आचार्य शिष्य को अपने अधीन नही रखते। किन्तु शिष्य अपने हित के लिए आचार्य के आधीन रहना चाहता है।"[1]

तेरापथ के प्रवर्तक आचार्य भिक्षु ने व्यवस्था के लिए जो समता का सूत्र दिया, वह समाजवाद का विकसित प्रयोग है। साधु-सघ मे सबके सब श्रमिक हैं और सबके सब पडित। हाथ-पैर और मस्तिष्क मे अलगाव नही है। सामुदायिक कार्यों का सविभाग होता है। एक रोटी के चार टुकडे हो जाते हैं, यदि खाने वाले चार हो तो। एक सेर पानी पाव-पाव कर चार भागो मे वट जाता है, यदि पीने वाले चार हो तो।

तेरापथ का यह स्वरूप दो शताब्दी पुराना है। जनता को इसका परिचय नहीं मिला था, इसलिए उसे आधुनिकतम लगा और यह जान आश्चर्य हुआ कि यह व्यवस्था दो शताब्दी पार कर रही है। जयप्रकाशनारायण जयपुर[2] मे आचार्यश्री से पहली बार मिले। आचार्यश्री ने उन्हे सघीय व्यवस्था का परिचय दिया तो वे झूम उठे। उन्होंने कहा आपके यहा तो सवा सोलह आना समाजवाद है। हम जो लाना चाहते हैं वह आपके यहा शताब्दियो पहले आ चुका है। एक के लिए सब और सबके लिए एक का सिद्धान्त तो समाजवाद का ही सिद्धान्त है। तेरापथी साधु-सस्था का सगठन बहुत ही कठिन समाजवादी सिद्धान्तो के आधार पर है। हिन्दू और जैनधर्म मे जो अन्यान्य सस्थाए हैं उनके पार बडे-बडे मठ और असख्य धन-वैभव है। उनकी तुलना मे यह सस्था बहुत ही उच्चकोटि की है। परन्तु हम साधु-सस्था के इन उत्कृष्ट सिद्धान्तों को गृहस्थ जीवन मे भी लागू करना चाहते हैं। न्याय और समता के आधार पर हमे 'बहुजन-हिताय' समाज व्यवस्था करनी हैं और इस कार्य मे आशा है कि आचार्यश्री का आशीर्वाद हमारे साथ रहेगा।

तेरापथ के अन्तस्थल मे क्रान्ति के जो बीज छिपे पड़े थे, वे अब जनता की दृष्टि मे अकुरित होने लगे हैं। आचार्यश्री को एक क्रान्तदर्शी के रूप मे पहिचाना जाने लगा। कुछ विचार उन्हें तेरापथ की परम्परा से मिले थे और कुछ उन्होंने स्वय अर्जित किए थे। परम्परा लब्ध विचारो ने उन्हे यशस्वी बनाया तो स्वय प्राप्त विचारो ने तेरापथ को यशस्वी बनाया।

करवट

शाश्वत सत्यो के विषय मे तेरापथ का दृष्टिकोण बहुत ही स्पष्ट रहा है। सामयिक स्थितियो मे उसका साधु समाज प्रभावित नही हुआ, यह नही कहा जा सकता। २००० वि० साल तक आचार्यश्री भी युग को सही रूप मे नही आक पाये थे। इसका

---

१ तेरापथ द्विशताब्दी के अवसर पर प्रदत्त प्रवचन से।

२ वि० स० २००६।

पहला कारण है—उनका विहार क्षेत्र बहुत सीमित था। दूसरे में अध्ययन के विषय सीमित थे। विचारों का संगम बहुत कम था। तीसरी बात यह है—अध्यात्म की भावना को जीवित रखने के लिए कितनी क्षमता अर्जित करनी चाहिए इस ओर चिन्तन स्फुटित ही नहीं हुआ था। आचार्यश्री ने यकायक करवट ली तो सब लोग आश्चर्य चकित रह गए। जिनकी दृष्टि में तेरापंथ सर्वाधिक प्रतिगामी सम्प्रदाय था, वह उन्हीं की दृष्टि में सर्वाधिक प्रगतिशील बन गया। दस वर्ष पहले तक अनेक जैन लोग तेरापथ का जैन सम्प्रदाय के रूप में उल्लेख करते हुए सकुचाते थे। वे दिगम्बर, श्वेताम्बर और स्थानकवासी इन्हीं तीनों में, सब का समावेश कर देते थे। किन्तु जैसे-जैसे लोगों को इसका परिचय मिला, वैसे-वैसे उनका आग्रह टूटता गया। अब वे तेरापथ के अस्तित्व को स्वीकार करने में अनुदार नहीं हैं।

युग-धर्म के व्याख्याकार

जो नहीं जानते कि तेरापथ क्या है? तब तक उनके लिए वह अच्छा भी नहीं था और बुरा भी नहीं था। अच्छाई या बुराई का भाव परिचय में प्राप्त होता है। आचार्यश्री के प्रयत्नों से जैसे-जैसे तेरापथ प्रकाश में आया, परिचय बढ़ा, वैसे-वैसे वह कसौटी पर चढ़ा। किसी ने उसकी अच्छाइयों को पकड़ा, किसी ने खामियों को और किसी ने दोनों को। जो अनुरक्त होता है, वह केवल अच्छाइयों को पकड़ता है। जो द्विष्ट होता है, वह केवल खामियों को पकड़ता है। जो मध्यस्थ होता है, वह दोनों को पकड़ता है।

संस्थान जो होता है, वह ऐसा नहीं होता कि उसमें केवल खामियां ही हों, या केवल अच्छाइयां ही हों। मात्रा-भेद से कहा जाता है—यह अच्छा है—यह बुरा है।

आचार्य भिक्षु ने जो धर्म की व्याख्या दी वह उस सामन्तशाही युग के अनुकूल नहीं थी, किन्तु वर्तमान युग को उसमें समाधान मिल सकता है, आचार्यश्री ने इस तथ्य को पकड़ा और उसे युग-धर्म के रूप में प्रस्तुत किया।

हिन्दुस्तान स्वतन्त्र हुआ ही था। जातीय संघर्ष अपने पूरे वेग पर थे। एक ओर 'इस्लाम खतरे में' तो दूसरी ओर 'हिन्दू धर्म खतरे में' के नारे बल पकड़ते जा रहे थे। ठीक उसी समय आचार्यश्री ने जनता को यह घोष दिया—"अमर रहेगा धर्म हमारा।"[१]

जयपुर में[२] आचार्यश्री ठोलिया-भवन में ठहरे हुए थे। एक साम्यवादी भाई आया। धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक सभी चर्चाएं चली। आचार्यश्री ने कहा—"क्या धार्मिक स्वतंत्रता को सुरक्षित रखते हुए समाज का आर्थिक ढांचा नहीं बदला जा सकता?" उन्होंने कहा—"यह कैसे सम्भव है? धर्म का प्रभाव रहे तब तक सामाजिक परिवर्तन करना कठिन है।" आचार्यश्री ने कहा—"यही तो भूल है। मैं दृढ़ता से कहता हूं कि धर्म

---

१ वि० सं० २००४, छापर।
२ „ „ २००६।

समाज-विकास मे बाधक नही है। मेरे अभिमत मे धर्म के बिना समाज का शरीर स्वस्थ रह ही नही सकता। क्या अभय, मैत्री, सत्य, प्रामाणिकता, अपरिग्रह और अशोषण के बिना समाज स्वस्थ रह सकता है ?" वे बोल उठे—"नही।" आचार्यश्री ने कहा—"तो फिर धर्म और क्या है ? वे ही तो धर्म है। सम्प्रदाय तो धर्म नही है, वह तो धर्म की व्याख्या देने वाला सस्थान है। धर्म जन्मना लब्ध पैतृक निधि भी नही है, वह व्यक्ति-व्यक्ति की पवित्र साधना द्वारा अर्जित गुण है। पूजी और सत्ता से इसका कोई सम्बन्ध है। आचार्य भिक्षु ने दो शताब्दी पूर्व यह कहा था—'धन से धर्म नही होता।' मेरी धारणा मे धन और धर्म का सम्बन्ध ३६ के अक जैसा है। सम्प्रदाय, जाति, वर्ण, रग और भौगोलिक भेद धर्म को विभक्त नही करते। वह सब के लिए एक है। सब उसके अधिकारी हैं। धूप और छाह, पवन और जल जैसे सबके लिए है वैसे ही धर्म भी सबके लिए मुक्त है।"

धर्म की इस व्याख्या ने उन्हे विस्मय मे डाल दिया और वे कह उठे—"धर्म का वह रूप हो तो वह हमारी क्रान्ति की कल्पना मे बाधक नही है।"

धर्म की इस व्याख्या को आचार्यश्री इन बारह वर्षों में हजारो बार दोहरा चुके हैं। हजारो बुद्धिवादी व्यक्तियो को इससे धर्म सम्बन्धी विचारो को परिमार्जित करने की प्रेरणा मिली।

समभाव की दिशा मे

तेरापथ के विषय मे दूसरे जैन विद्वान् बहुत कम जानते थे और जो जानते थे, वे भी प्रामाणिकता से बहुत कम जानते थे। इसलिए साहित्य मे तेरापथ की चर्चा बहुत कम हुई और जो हुई वह भी प्रामाणिक नही हुई। साधारणत तेरापथ की पहचान चूहे-बिल्ली जैसे उदाहरणो द्वारा होती थी। बिल्ली चूहे को मारे और उसे कोई छुड़वाये, उसमे तेरापथी पाप बतलाते हैं। लगभग एक सौ तिरानवें वर्ष तक तेरापथ की आलोचना इसी स्तर पर होती रही है। उसके मन्तव्यो की गहराई को समझने का यत्न नही किया गया।

जैन-दर्शन के विद्वान् पडित सुखलालजी और उनके साथी तेरापथ को अज्ञानियो का समुदाय मानते थे। दूसरे-दूसरे जैन-सम्प्रदाय भी तेरापथ की चिन्तन धारा को बहुत हल्की दृष्टि से देखते थे, इसलिए उनके मन मे तेरापथ के मन्तव्यो के प्रति जिज्ञासा उभरे, वैसी स्थिति ही नही थी। इधर तेरापथ का साहित्य भी आज की भाषा मे प्रकाशित नही था। विद्वानो से सम्पर्क बहुत कम था। कही-कही श्रावक लोग उनसे मिलने पर यथार्थ व्याख्यान न दे सकने के कारण उन्हें और उलझा देते थे। इस स्थिति मे उच्चस्तरीय आलोचना की आशा नही की जा सकती थी।

आचार्यश्री आलोचना के इस निम्न स्तर से बहुत चिन्तित थे। वे इसे अपनी लक्ष्य पूर्ति मे एक विघ्न मानते थे। दिल्ली के नगर-निगम के मैदान मे एक ओर अणुव्रत-आन्दोलन का पहला अधिवेशन हो रहा था और दूसरी ओर तेरापथ की निम्न-

स्तरीय आलोचना के पर्चे वट रहे थे। लोगो का ध्यान निर्माण की अपेक्षा आलोचना मे अधिक केन्द्रित होता है। भारतीय मानस तो इस विषय मे वहुत अभ्यस्त है। उस आलोचना के स्पष्टीकरण मे आचार्यश्री का समय लगता, शक्ति खपती। किसी के विरोध मे कुछ भी नही लिखना—यह तेरापथ की प्रारम्भ से आज तक निश्चित नीति रही है। इसलिए विरोध मे आचार्यश्री व उनके शिष्यो की शक्ति कभी नही खपी। विरोध को शान्त भाव से सहने का वरदान भी तेरापथ को प्राप्त है। इसलिए विरोध के प्रति विरोध करने मे भी उनकी शक्ति नही खपी। पर विरोध जो उभारा जाता उसके शातिपूर्ण समाधान मे शक्ति का व्यय अवश्य होता। आचार्यश्री चाहते थे—शक्ति का यह व्यय भी न हो। इस चाह की पूर्ति के लिए उन्हे वर्षों तक सतत प्रयत्न करना पड़ा।

आचार्यश्री ने तेरापथ के मन्तव्यो को रखने की शैली मे परिवर्तन किया। उन्हें दर्शन की भाषा मे जनता के सामने रखा। उसकी प्रतिक्रिया हमारे सघ पर भी हुई और दूसरे सम्प्रदायो पर भी हुई। हमारे कुछ साधुओ और श्रावको के मन मे ऐसा भाव आया कि आचार्यश्री भिक्षु स्वामी के मन्तव्यो को स्पष्ट भाषा मे रखते हुए सकुचाते हैं। दूसरो की प्रतिक्रिया यह थी कि आचार्यश्री ने भिक्षुश्री के सिद्धान्तो को वदल दिया है। आचार्यश्री इन दोनो प्रतिक्रियाओ को जानते थे। पर उन्हे अपने आप मे आस्था थी और वे भिक्षु स्वामी के गूढ चिन्तन को आलोचना के उच्च स्तर पर ले जाना चाहते थे। इसलिए वे अपनी गति पर पूर्ण आश्वस्त रहे।

इस गति मे उनका दूसरा चरण यह था कि उन्होने अपने शिष्यो से इस विषय मे साहित्य लिखवाया। मेरे सहपाठी मुनिश्री वुद्धमल्लजी ने 'तेरापथ', मुनिश्री नगराज जी ने 'युगधर्म', 'तेरापथ', 'आचार्य भिक्षु और महात्मा गाधी', 'आधुनिक समाज व्यवस्था मे दया दान' ये ग्रथ लिखे।

मैंने—'अहिसा, अहिसा और उसके विचारक', 'धर्म और लोक व्यवहार', 'उन्नीसवी सदी का नया आविष्कार', 'दया-दान', 'अहिसा तत्त्व-दर्शन' ये ग्रन्थ लिखे।

आदर्श साहित्य सघ, तेरापथी महासभा द्वारा ये प्रकाशित व प्रचारित किये गये।

तीसरे मे कुछ विद्वानो का सम्पर्क भी वढा। आचार्यश्री का विश्वास गहरा होता जा रहा था। उनकी आस्था थी—जो तत्त्व हमे मिला है वहुत उपयोगी है। उसमे युग-धर्म के बीज छिपे पडे हैं। उस पर निम्नस्तरीय आलोचना का आवरण पडा है। उसे हटाया जा सके तो जन-कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो सकता है, धर्मोदय हो सकता है। इस चिन्तन से आचार्यश्री ने जन-सम्पर्क वढाने का प्रयत्न किया। दूसरे-दूसरे सम्प्रदायो के विद्वान् और स्वतन्त्र-विचारक निकट आने लगे। उन्हें तेरापथ के विचार प्राणवान लगे और आचार्यश्री के व्यक्तित्व मे वहुत सभावनाओ के दर्शन हुए। वे तेरापथ और आचार्यश्री के व्यक्तित्व को प्रशसा के शब्दो मे गूथे विना नही रहे।

तरुण सघ जैसे तेरापथ के स्थायी आलोचको के लिए यह खासी अच्छी सामग्री थी। उन्होंने इस पर अनेक टीका-टिप्पणिया की। आचार्यश्री की प्रवृत्ति पर इसका

कोई असर नही हुआ। वे अपने लक्ष्य मे सफल होते गए।

घडे पर एक बूंद गिरती है, सूख जाती है। दो, दस और बीस की भी वही गति होती है। परिणाम तब सामने आता है, जब उनकी मात्रा पर्याप्त हो जाती है। प्रयत्न अपना परिणाम अवश्य लाता है। आज चूहे-बिल्ली के स्तर की आलोचनायें समाप्त हो गई हैं।

उच्चस्तरीय आलोचना का श्रीगणेश बम्बई[1] मे हुआ। प्रबुद्ध जीवन के सम्पादक भाई परमानन्दजी कापडिया ने ता० १५-११-५४ के अक मे 'अहिंसा नी अधूरी समजण' शीर्षक अपना एक लेख प्रकाशित किया। उसमे तेरापथ के अहिंसा सम्बन्धी दृष्टिकोण की यौक्तिक आलोचना थी। आचार्यश्री उस समय बम्बई मे ही थे। उन्होने वह लेख पढा। उसकी जो प्रतिक्रिया हुई—उसे व्यक्त करते हुए आचार्यश्री ने मुझे कहा—"यह आलोचना आज तक की सभी आलोचनाओ से भिन्न है। इसमे न आक्षेप है, न गालिया और न लाछित करने का प्रयत्न। विरोधी आलोचना के उत्तर मे कुछ भी न लिखा जाए—यह आज तक अपना निश्चय रहा। अब इसमे थोडा परिवर्तन आवश्यक है। इस कोटि की आलोचना की प्रत्यालोचना की जाए—इसमे मुझे कोई आपत्ति नही दीखती।"

आचार्यश्री का आदेश पा मैंने उसके उत्तर मे 'अहिंसा की सही समझ' शीर्षक लेख लिखा। वह हमारी ध्रुव नीति तथा आचार्यश्री की समन्वय-शील नीति से पूर्णत भावित था। उसकी अच्छी प्रतिक्रिया हुई। विचार-भेद होने पर भी भाई परमानन्दजी ने उसे सहृदयता से देखा। उन्होने ता० १-३-५५ के अंक मे उस पर टिप्पणी करते हुए लिखा—"मुनि नथमलजी द्वारा प्रस्तुत की हुई विचार-सरणि मुझे स्वीकार नही है, फिर भी उन्होंने जिस उदात्त शैली मे अपने विचारो को प्रस्तुत किया है, उसके लिए मैं उन्हे धन्यवाद दिए बिना नही रह सकता। मेरी आलोचना मे किसी स्थान पर थोडा बहुत कटाक्ष या आक्षेप मिल सकता है, पर उनकी प्रत्यालोचना में कोई कटाक्ष, आक्षेप, आवेश या असमता नही है। भाषा और निरूपण मे एक विद्वान् और प्रसन्न-चित्त मुनि को शोभा दे वैसा माधुर्य, सयम, गाभीर्य और बहु-श्रुतता दृष्टिगोचर होती है। उनके लेख को पढकर मैंने गहरी प्रसन्नता का अनुभव किया है। विचार-भेद यदि इस प्रणाली से प्रस्तुत किए जाए तो परस्पर कभी कटुता उत्पन्न ही न हो। मत-भेद मे मन-भेद जन्म ही न लें और समाज के विचार-वैभव मे सत्कारार्ह इष्ट वृद्धि होती रहे।"[2]

आचार्यश्री ने माध्यस्थ-भाव को जिस रूप मे समझा और हमे समझाया उसके परिणाम ऐसे फलित हुए कि पिछली आलोचनाए बन्द हो गई और उनका स्थान सैद्धान्तिक आलोचनाओ ने ले लिया।

आचार्यश्री का मध्यस्थ दृष्टिकोण श्रावक समाज पर भी गहराई से प्रति-

१ वि० स० २०११

विम्वित हो रहा था। जैन भारती तेरापथी महासभा द्वारा प्रकाशित होने वाला पत्र है। उस समय श्रीचन्दजी रामपुरिया उसके सम्पादक थे। उन्होने 'अहिंसा नी अधूरी समजण' और 'अहिंसा की सही समझ' दोनो लेख उसमे एक साथ प्रकाशित किए। यह एक आश्चर्य का विषय वन गया। इस पर टिप्पणी करते हुए भाई परमानन्दजी ने ता० १-३-५५ के अक मे लिखा—'अहिंसा की अधूरी समझ' जैसी प्रतिपक्ष की विस्तृत आलोचना को अपने पत्र मे विस्तृत स्थान देकर जो उदार हृदयता का परिचय दिया है, उसके लिए श्रीचन्द रामपुरिया धन्यवाद के पात्र हैं। पत्रकारो मे ऐसी उदारता कही भाग्य से ही मिलती है।

आचार्यश्री के वातावरण मे जो समभाव फलित हो रहा था वह दूसरो के मानस को सरलता से छू रहा था।

एकता के पथ पर

विश्व के प्राङ्गण मे अनेक सम्प्रदाय हैं। कुछ सामाजिक, कुछ राजनैतिक और कुछ धार्मिक। जो अनेको मे एकता ढूढे, वह एक का होकर भी सवका होता है। इसीलिए आचार्यश्री एक धर्म-सम्प्रदाय के होते हुए भी सबके हैं। ऐसा व्यक्ति कोई नही होता, जो किसी एक का न हो। कोई भी मनुष्य आकाश से नही टपकता। वह किसी देश, जाति और सम्प्रदाय की परम्परा मे जन्म लेता है। किसी वातावरण मे पलता-पुसता है। किसी से उपकृत होता है और किसी के प्रति कृतज्ञ भी होता है। आचार्यश्री हिन्दुस्तान मे जन्मे। ओसवाल उनकी जाति है। वे तेरापथ के मुनि वने। उसके आचार्य वने। वे आज तेरापथ-सम्प्रदाय के प्रति कृतज्ञ हैं। उसके सिद्धान्तो मे उनकी दृढ आस्था है। वे उसका विकास चाहते हैं। उनकी भाषा से तेरापथ के विकास का अर्थ है चरित्र का विकास और चरित्र के विकास का अर्थ है तेरापथ का विकास।

तेरापथ है, वह जैन शासन से अभिन्न है और जैन-शासन सत्य से अभिन्न है। यथार्थ मे धर्म जो है, वह सत्य से भिन्न नही है। सत्य जैन-परम्परा के लिए जितना प्राप्य है उतना ही बौद्ध और वैदिक आदि सभी परम्पराओ के लिए प्राप्य है। सत्य जितना जैन-परम्परा से मुक्त है, उतनी ही दूसरी परम्पराओ मे भी मुक्त है। वह किसी की पैतृक सम्पत्ति नही है। वह उन सवके लिए है, जो उसकी उपलब्धि के लिए प्रयत्नशील हैं। इसलिए दूसरे सम्प्रदायो मे सत्य देखा ही न जाए और अपने सम्प्रदाय मे ही सत्य देखा जाए—यह आग्रह का मनोभाव है। जैन-दृष्टि को यह अभिप्रेत नही है।

आचार्यश्री के जीवन मे अनाग्रह का क्रमिक विकास हुआ है। आज उनकी जो मन स्थिति है, वह दस वर्ष पहले नही थी—और जो दस वर्ष पहले वनी, वह उससे पहले नही थी। स्याद्वाद उनका मान्य सिद्धान्त है। अनेकान्त-दृष्टि उन्हे परम्परा से प्राप्त है। किन्तु अपने विवेक से जो प्राप्त होता है, वह परम्परा-प्राप्त से अधिक मूल्यवान होता है।

दस वर्ष पहले आचार्यश्री का मनोभाव लोगो को तेरापथ मे दीक्षित करने का

अधिक था। अब उनमे जनता को चरित्रवान् बनाने की भावना अधिक है। तेरापंथ के कुछ अनुगामी पहली प्रवृत्ति को अधिक महत्त्व देते हैं। उनका आज भी यह आक्षेप है कि आचार्यश्री तेरापंथ के विकास के लिए विशेष प्रयत्न नही करते। आचार्यश्री तेरापंथ-सम्प्रदाय में दूसरे व्यक्तियों को दीक्षित नहीं कर सके, इसलिए वे लोग आचार्यश्री को सफलता का श्रेय देना नही चाहते।

सम्प्रदाय शरीर है और धर्म उसकी आत्मा है। आचार्यश्री की दृष्टि मे आत्मा के विकास का अधिक मूल्य है और उनके कुछ अनुयायियो की दृष्टि मे शरीर-विकास अधिक मूल्यवान है। आचार्यश्री उनकी दृष्टि को सर्वथा तथ्यहीन नही मानते। पर वह तथ्य इतना छोटा है कि उसके लिए बहुत बडे तथ्य को गौण नही किया जा सकता। अन्यान्य सम्प्रदायो के लाखो व्यक्तियो को चरित्र-विकास की प्रेरणा मिली है, वह आचार्यश्री के उस दूसरे दृष्टिकोण से मिली है।

आचार्यश्री ने एक बार कहा—"धर्म-सम्प्रदायो मे समन्वय के तत्त्व अधिक हैं, विरोधी तत्त्व कम। उस स्थिति मे धार्मिक व्यक्ति विरोधी तत्त्वो को आगे रख आपस मे लडते हैं, यह उनके लिए शोभा की बात नहीं है। उनको समन्वय की चेष्टा करनी चाहिए।[1] इस विचार ने श्रोताओ को विस्मय मे डाल दिया। तेरापंथ को दूसरे सम्प्रदाय वाले अधिक कट्टर मानते थे। उनके आचार्य के विचार इतने विशाल हैं, यह उनकी कल्पना नही थी। तेरापंथ अब किस ओर बढ रहा है, यही उनको कुछ आभास मिल गया।

आचार्यश्री लोगो को धर्म-निष्ठ देखना चाहते है, सम्प्रदाय-निष्ठ नहीं। उनके अभिमत मे सम्प्रदाय धर्म-निष्ठता का प्रेरक होना चाहिए, बाधक नहीं। वे सम्प्रदायो को न मिटाना चाहते हैं और न एक दूसरे को एक दूसरे मे विलीन करना चाहते हैं। ये दोनो कार्य समझौता-नीति के हैं। समझौतावाद सत्ता और अधिकार की देन है। धार्मिक विश्वास मे समझौता नहीं होता। वहा सबकी स्वतन्त्रता मान्य है।

आचार्यश्री की भाषा मे साम्प्रदायिक एकता का अर्थ है—समन्वय, अविरोध और सहिष्णुता। बगाल के खाद्य मन्त्री प्रफुल्लचन्द्र सेन ने एक बार पूछा—"क्या सभी धर्म सम्प्रदायो मे ऐक्य सम्भव है?"

आचार्यश्री—"हा है।"

सेन—"कैसे?"

आचार्यश्री—"एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय के प्रति अन्याय न करे, घृणा न फैलाये, आक्षेप न करे, विचार सहिष्णु रहे, तो फिर एकता ही है। विचार-भेद मिट जाए, सब सम्प्रदाय एक ही विचार के हो जाए, इसमे न मेरा विश्वास है और न मैं इसे कोई विवेकपूर्ण कार्य मानता हूँ।"[2]

आचार्यश्री की मान्यता मे विचार-भेद विकास का लक्षण है। उसे जडात्मक

---

१ वि० स० २००६ जयपुर में दिए गए प्रवचन से।

२ वि० स० २००६ जयपुर के वार्तालाप से।

एकता के द्वारा मिटाने की आवश्यकता नही है। वे बहुत बार कहते हैं—"लोग यह क्यो सोचते हैं कि विचार-भेद मिट जाए। जबकि सोचना यह चाहिए, विचार-विरोध मिट जाए। उगलियो को एक बनाने की क्या आवश्यकता है? उनकी भिन्नता अनुपयोगी नही है। उनकी परस्परता ही उनकी एकता है।" सघर्ष का मूल मन-भेद है। मत-भेद होता है इसलिए मन-भेद नही होता। अपने मे भिन्न मत के प्रति असहिष्णुभाव होता है, इसलिए मन-भेद होता है। आचार्यश्री ने एकता का जो बीज बोया था, उसे अकुरित पुष्पित और फलित होते भी देखा है। उन्हे दूसरे सम्प्रदायो के द्वारा जो श्रद्धा और स्नेह मिला है वह महज सुलभ नही है। उन्हे एक भारतीय सत के रूप मे ख्याति मिली है, वह उनकी असाम्प्रदायिक मनोवृत्ति का ही प्रतिफल है।

तेरापथ का प्रादुर्भाव स्थानकवासी सम्प्रदाय से हुआ है। वे हमारे अधिक निकट हैं इसीलिए अधिक दूर रहे है। इन वर्षो मे वह दूरी कम हुई है।

उपाध्याय मुनिश्री अमरचन्दजी को मैं निकटता से जानता हूँ। वे स्थानकवासी सम्प्रदाय के अग्रणी विद्वान्, उदारचेता, और सेवाशील व्यक्ति हैं। वे आगरा मे थे। आचार्यश्री वहा पधारे।[1] पहला प्रवचन रत्न जैन हाई स्कूल मे किया। वहा से आचार्यश्री शहर मे जा रहे थे। ससद सदस्य सेठ अचलसिहजी आदि स्थानकवासी सम्प्रदाय के श्रावक साथ थे। वे आचार्यश्री को उस मार्ग से ले गए जिसके बीच मे वह स्थान पडता था, जहा उपाध्यायजी ठहरे हुए थे। वह स्थान आया। अचलसिहजी आदि आचार्यश्री के आगे खडे हो गए। उन्होने कहा—"यहा अमरचन्दजी महाराज हैं। आप अन्दर पधारिए।" आचार्यश्री ने कहा—"अभी!" वे बोले—"बीच मे आ गया है—कृपा करिए।" आचार्यश्री साधुओ सहित सीढियो पर चढे। आगन मे पहुँचे। इतने मे उपाध्यायजी भी ऊपर से आ गए। उल्लास की मुद्रा मे बोले—"आज आप आगे हैं। लोग आग्रह कर रहे थे। पर आप यहा आएगे, यह कल्पना नही थी।" फिर तो आचार्यश्री लगभग ढाई बजे तक वहा ठहरे। जो उल्लास बरसा वह दृश्य ही था वर्ण्य नही। वहा हमे समन्वय-नीति का एक प्रस्फुट परिणाम देखने को मिला। उपाध्यायजी की 'अहिसा-दर्शन' नाम की एक पुस्तक कई वर्षो पहले प्रकाशित हुई थी। उसमे कई स्थलो पर तेरापथ की आलोचना थी। बातचीत के प्रसग मे मैंने उसकी ओर उनका ध्यान खीचना चाहा। पन्ने पलटे। जो देखना था वह कही मिला नही। उपाध्यायजी ने मुस्कान भरते हुए कहा—"आप क्या देखते हैं, यह दूसरा सस्करण है। जो आप देख रहे हैं, वह इसमे नही है।" मुझे लगा कि आचार्यश्री की समन्वय-नीति का यह पहला सस्करण है। गणेशप्रसादजी वर्णी दिगम्बर समाज मे बहुमान्य व्यक्ति हैं। 'इसरी' पारसनाथ का स्टेशन है। वे वहा एक आश्रम मे रहते है। आचार्यश्री पधारे। उन्होने पहला वाक्य यही कहा—"आपका धर्म-शासन बहुत ही सगठित है, अनुशासन अद्वितीय है।" वे उदार व्यक्ति हैं। उनकी वाणी मे यथार्थता है, यह अचरज की बात नही। तेरापथ सगठन के प्रति उनके मन मे भी

---

१ वि० स० २०१५।

सराहना का भाव है जो उनके प्रति उदार नहीं हैं। आचार्यश्री इस परम्परालब्ध शक्ति को अपने लिए वरदान मानते हैं। कुछ विचारक इसे दूसरी दृष्टि से देखते हैं। जैनेन्द्रजी के शब्दों में—"वे आचार्य पद पर हैं। एक समुदाय और समाज उनके पीछे है। कोई सात सौ साधु-साध्वी उनके आदेश पर हैं। यह एक ही साथ उनकी शक्ति और मर्यादा है। यदि वे आरम्भ में अकेले होते और प्रयोग के लिए मुक्त, तो क्या होता? इस सम्भावना पर कभी कल्पना जाकर रमना चाहती है। लगता है तब मार्ग सरल न होता, पर शायद कठिन ही हम लोगों के लिए कीमती हो जाता।"[1] महात्मा गांधी की भांति आचार्यश्री का जीवन भी अपने आप में एक बहुविध प्रयोगशाला है। उनके पीछे कोई परम्परा या सम्प्रदाय नहीं था, यह कहने के लिए बहुत बड़ा साहस चाहिए। पर यह सच है कि आचार्यश्री के पीछे जो परम्परा और सम्प्रदाय है, वह उनमें कहीं अधिक नियमित है। इसलिए वे गांधीजी की भांति अपना चाहा करने के लिए सर्वथा उन्मुक्त नहीं हैं। वे उन्हें छोड़ने की स्थिति में नहीं हैं, जिनकी गति बहुत धीमी है। इससे अवश्य ही गतिरोध उत्पन्न होता है। पर धीमी गति से चलने वालों के लिए धीमे चलने को आचार्यश्री क्षम्य मानते हैं। यदि वे चलना ही न चाहें तो आचार्यश्री उनसे बंधे हुए भी नहीं हैं।

महात्मा गांधी अहिंसा के द्वारा राजनीति को प्रभावित कर रहे थे। आचार्यश्री उसके द्वारा जीवन व्यवहार को प्रभावित कर रहे हैं। महात्मा गांधी का गीता में अधिक विश्वास था और आचार्यश्री का विश्वास आचारांग में अधिक है। महात्मा गांधी की अहिंसा का मानदण्ड था—'अनासक्ति योग' और आचार्यश्री की अहिंसा का मानदण्ड है—'संयम योग'। फिर भी बहुत बड़ा साम्य है। और उसी साम्य को देख गांधीवादी विचारक जैनेन्द्र को यह कल्पना हुई कि आचार्यश्री आरम्भ में अकेले होते और प्रयोग करने के लिए मुक्त, तो क्या होता? इस कल्पना में सच्चाई अवश्य है। कुछ अनुयायियों द्वारा यदा-कदा कार्य में बाधाएं उत्पन्न की जाती रही हैं। एक बार तो उन्हें भयंकर तूफान का सामना करना पड़ा।[2] समूचे तेरापंथ में एक भूचाल-सा गया। तब मैं भी इसी कल्पनालोक में पहुंचा कि आचार्यश्री के पीछे कोई सम्प्रदाय नहीं होता तो उनकी शक्ति इन व्यर्थ की बातों में न खपती। किन्तु फिर सोचा प्रभावशाली व्यक्ति के आस-पास जो लोग इकट्ठे होते हैं, वह सम्प्रदाय बन जाता है। वह एक परिवार है। निभाने में, साथ ले चलने में, यदि अहिंसा सफल न हो तो उसका दूसरों पर कैसे असर होगा? गांधीजी के अनेक जीवन-प्रसंग इसकी साख देते हैं कि वे कांग्रेस के लोगों को कैसे निभाते थे। सहगति जो है, उसे भले ही कोई बुद्धिवादी प्रगति न कहे, वह अहिंसा का स्वभाव अवश्य है। आचार्यश्री अहिंसा-स्वभावी हैं, इसलिए वे जितने अपने सम्प्रदाय के हैं उतने ही दूसरों के हैं। आज की वेला में वे दूसरों के लिए जितने हैं, उतने अपने सम्प्रदाय के लिए नहीं। सच तो यह है कि उनकी दृष्टि में

---

१ 'आचार्यश्री तुलसी' की भूमिका पृ० घ

२ संघर्ष की वेदी पर—१

अपना-दूसरा जैसा भेद रहा ही नहीं है। वे अनेक सम्प्रदाय के लोगों के बीच रह कर जितनी प्रसन्नता का अनुभव करते हैं, उतनी प्रसन्नता उन्हें एक ही सम्प्रदाय के लोगों के बीच में रहने में नहीं होती। जैन शासन, जो वैश्य जाति में ही सीमित है, वह उन्हें प्रिय नहीं है। वे कहते हैं—"जो धर्म सबका है, वह एक जाति की सीमा में ही क्यों ? जो जनसाधारण के लिए न हो, केवल बड़े-बड़े व्यक्तियों के लिए ही हो, उसमें अवश्य ही कोई खामी है। जैन-धर्म में मुझे कोई खामी नहीं लगती। यह खामी उन जैनों की है, जो संकुचित दृष्टि की बलि बने हुए हैं।" आचार्यश्री की भाषा में—"सम्यक्-दृष्टि, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चरित्र की आराधना जो है, वही जैन-धर्म है। अनेकान्त, स्याद्वाद और अध्यात्म का विचार जो है, वही जैन-दर्शन है। अहिंसा, अपरिग्रह और अभय की साधना जो है, वही जैन-शासन है।" वे जैन-धर्म को इसी रूप में स्वीकार करते हैं। जोधपुर के रेटरी क्लब में प्रवचन था।[1] राजस्थान के मुख्य न्यायाधीश डा० कैलाशनाथ वान्चू आदि अनेक विद्वान् उपस्थित थे। एक भाई ने पूछा—"जैन-धर्म के सिद्धान्त इतने अच्छे हैं, फिर भी जैन इतने कम क्यों ?" आचार्यश्री ने कहा—"मेरी मान्यता में जैन कम नहीं है। अहिंसा और राग-द्वेष की विजय में जिनका विश्वास है, उन सबको मैं जैन मानता हूँ। और जो जैन कहलाते हैं, वे सब जैन ही हैं, यह मैं नहीं मानता।"

जनसाधारण की धारणा में जैन-मुनि बनियों के गुरु हैं। आचार्यश्री ने इस धारणा को तोड़ने के लिए बहुत प्रयत्न किया है। साधु सबके हैं और उन पर सबका समान अधिकार है। उनका द्वार सबके लिए खुला है। इस विषय पर आचार्यश्री ने एक बहुत ही प्रिय गीत लिखा था—"संतों के द्वार सबके लिए खुले हैं।"

> संतों के द्वार सबके लिए खुले हैं
> कोई चाहे जब जाकर देख ले
> द्वार ही उनके प्रहरी हैं
> वृक्ष की छांह, चांद की चांदनी
> सूरज की धूप—ये सीमा से मुक्त हैं
> इन पर सबका समान अधिकार है
> संतों के द्वार सबके लिए खुले हैं।
>
> भले कोई निर्धन हो या धनवान्
> पुण्यहीन हो या पुण्यवान्
> हरिजन हो या महाजन
> मजदूर हो या किसान
> हिन्दू हो या मुसलमान।
>
> वहां जाति की जांच नहीं होती
> वहां मानवता की जांच होती है

---

[1] वि स २०१०।

ऊँच है या नीच ? यह जाना जाता है
वाणी से, आचार से, व्यवहार से।

जातिवाद और सम्प्रदायवाद की छाया से न तेरापथ ही बचा था और न आचार्यश्री भी। किन्तु जैसे ही आचार्यश्री ने अहिंसा की व्यापक भावना को पकड़ा, जैन-दर्शन के मर्म को हृदयगम किया, वैसे ही वे इन भावो से एक साथ ही ऊपर उठ गए। उन्होने अपने अनुयायियो को उठाने का प्रयत्न आरम्भ किया। बहुत उठे। कुछ नही उठे। कुछेक ने बाधाए उपस्थित करने का यत्न किया। लाडनू आचार्यश्री की जन्म-भूमि है। वही एक दिन हरिजन प्रवचन मे आने वाले थे। कुछ लोगो ने कहा—"वे अन्दर नही आ सकेंगे।" आचार्यश्री को इसका पता चला। उन्होने कहा—"हमारा प्रवचन सबके लिए है, उसमे किसी को भी रोका नही जा सकता। हरिजनो को यहा आने से रोकने का अर्थ मुझे रोकना होगा। जहा मेरा प्रवचन सुनने वालो को रोका जाए, वहा मैं नही रह सकता।" इसके आगे वे झुक गए। हरिजनो ने उनके साथ बैठ प्रवचन सुना। विचारो के पख नही होते, फिर भी उनमे उडने की क्षमता पक्षियो से अधिक होती है। आचार्यश्री के विचार सहसा प्रसार पा गए। उनके प्रवचनो मे सभी जातियो और सम्प्रदायो के लोग आने लगे। भारतीय सस्कृति और इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् डा० कालिदास नाग लाडनू आए थे। उन्होने स्थिति का आकलन करते हुए लिखा है—"आचार्यश्री रास्ते के एक ओर वेदी पर बैठ धर्मोपदेश कर रहे थे। कितने ही श्रोता उनकी वाणी सुनने के लिए आए थे। उनमे केवल सम्प्रदाय के लोग ही नही बल्कि सब धर्मो के लोग थे। मुसलमान भी थे। साधु की वाणी सबके लिए है। साधु-सत यही करते आए हैं।"[1] यह स्थिति आरम्भ की है। आगे तो यह प्रश्न ही नही रहा कि कौन आता है और कहाँ बैठता है ? आचार्यश्री का प्रवचन-पण्डाल सबके लिए अपना ही हो गया।

आचार्यश्री से जब यह पूछा गया—"जैन-मन्दिर मे हरिजन प्रवेश कर सकते हैं या नही ?"

आचार्यश्री ने कहा—"मेरा कोई मन्दिर नही है और मन्दिर या मूर्त्ति मे मेरा विश्वास भी नही है। इसलिए अधिकार की भाषा मे मैं नही कह सकता कि जैन-मन्दिर मे हरिजनो का प्रवेश हो या नही। किन्तु मुझे यदि पूछा जाए तो मैं यही परामर्श दूगा कि धर्म-स्थान मे किसी का भी प्रवेश निषिद्ध नही होना चाहिए। हरिजन अपने घर बैठा-बैठा भगवान् को अपने मन-मन्दिर मे बिठा लेगा, उसे कौन कैसे रोकेगा ? धर्म के क्षेत्र मे जाति-जन्य उच्चता मान्य नही है। वहा आचरण ही प्रधान है। ऊचा वही है, जिसका जीवन पवित्र हो। पवित्रता महाजन या हरिजन मे नही होती, मनुष्य के जीवन मे होती है। जैन लोग सदा से जातिवाद के विरोधी रहे हैं। वे इस दलदल मे फसे, यह आश्चर्य की बात है।"

आचार्यश्री ने समन्वय की चर्चा को बहुत व्यापक दृष्टि से आगे बढाया। वे

---

१ जैन भारती वर्ष ११ अक १, जनवरी १९५०।

चाहते है—"विरोध किसी के साथ न हो, पर जिनकी गति का लक्ष्य सम है उनमे विशेष सहयोग हो। उन्होने अहिंसको की भेदक मनोवृत्ति पर आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—"क्या कारण है कि चार चोरो का तो एक सगठन हो सकता है पर चार भद्रपुरुष चतुस्कोण के चार बिन्दुओ की तरह अलग-अलग ही रहते है। बुराई की ताकतो से लोहा लेने के लिए यह आवश्यक है कि भले आदमियो का भी सुदृढ़-सगठन हो।"[1] इस विचार ने सर्वोदयी नेता श्री जयप्रकाशनारायण को बहुत खीचा और उनकी प्रेरणा से अणुव्रत-आन्दोलन और सर्वोदय के कार्यकर्त्ताओं मे सहयोग भी बढा।

आचार्यश्री की मैत्री भावना को समय-समय पर विचारको द्वारा बल मिलता रहा है। राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने यह सुझाया था कि सर्वोदय व अणुव्रत-आन्दोलन समन्वित कार्य करे तो बहुत अच्छा हो। इस सुझाव से आचार्यश्री की भावना को बल मिला। आचार्यश्री जोधपुर मे थे।[2] वहा कृष्णदासजी जाजू आए। उन्होने कहा—"महाराज! आप जैन एकता के लिए कुछ प्रयास कीजिए।" उनका यह वचन आचार्यश्री के हृदय मे चुभा। उनकी सद्भावना पर प्रसन्नता हुई। जैन-जगत की दुर्बलता पर खेद हुआ। जहा अनेकान्त है, विश्व के समग्र दृष्टिकोणो का समन्वय करने वाली दृष्टि है—वहा इतना विरोध! सचमुच चिन्तनीय है।

उस चुभन मे से साम्प्रदायिक एकता के पाच व्रतो का उद्भव हुआ। मैत्री का प्रयत्न पहले से चल ही रहा था। जाजूजी के परामर्श ने उसमे तीव्रता ला दी। आचार्यश्री दूसरो के सुझावो को बहुत गहराई से लेते है। उनमे जितना देने का भाव है, उससे कही अधिक लेने का भाव है। जोधपुर से आचार्यश्री का विहार बम्बई की ओर हुआ। वहा कुछ जैन लोग तेरापथ के विचारो को तोड-मरोड कर रख रहे थे। आचार्यश्री को वह बहुत अखरा। आचार्यश्री पहली बार बम्बई आए थे। उनके सामने आन्दोलन का व्यापक कार्यक्रम था। वे देना कुछ और ही चाहते थे, मिल कुछ और ही रहा था। जैनो के इस रूप का जनता को परिचय मिले, यह उन्हे इष्ट नही था। आचार्यश्री ने उस समय एकता की योजना प्रस्तुत की। उसके पाच व्रत ये है—

१ मण्डनात्मक नीति बरती जाए। अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाए। दूसरो पर मौखिक या लिखित आक्षेप न किये जाए।

२ दूसरो के विचारो के प्रति सहिष्णुता रखी जाए।

३ दूसरे सम्प्रदाय या उसके साधु-सघ के प्रति घृणा और तिरस्कार की भावना का प्रचार न किया जाए।

४ सम्प्रदाय-परिवर्तन के लिए दबाव न डाला जाए। स्वेच्छा से कोई व्यक्ति सम्प्रदाय परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक बहिष्कार आदि अवाछनीय व्यवहार न किया जाए।

५ धर्म के मौलिक तथ्य—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह

---

१. २३ जनवरी १९५१, दिल्ली के एक प्रवचन से।

२ वि० स० २०१०।

को जीवन-व्यापी बनाने का सामूहिक प्रयत्न किया जाए।

प० नेहरू ने राजनीति के मच मे पचशील का प्रवर्तन किया उनमे थोडे वर्ष पूर्व आचार्यश्री ने इन पाच व्रतो का प्रवर्तन किया। इनकी प्रतिक्रिया सुखद हुई। विचारो की तोड-मरोड का कार्य शिथिल हो गया।

धार्मिक सहिष्णुता उन व्यक्तियो मे होती है, जो धर्म के प्रति उदासीन होते है। दूसरे, उनमे होती है जो धर्म की गहराई मे पैठ जाते है। आचार्यश्री धर्म के प्रति उदासीनता से उत्पन्न धार्मिक सहिष्णुता नही चाहते थे। वे चाहते थे कि लोग धर्म की गहराई मे पैठकर धार्मिक सहिष्णुता बढाए।

विचार स्वातन्त्र्य का अधिकार जैसे सबको है, वैसे ही विचार प्रतिपादन का अधिकार भी सबको है। दूसरो के विचारो को तोड-मरोडकर रखने का अधिकार किसी को नही है। आचार्यश्री के शब्दो मे—"मनुष्य की हत्या पाप है, तो विचारो की हत्या भी उससे कम पाप नही है। दूसरो के विचारो को गलत ढग से प्रस्तुत करने वाला बहुतो का अनिष्ट कर सकता है। सचमुच मारने वाला एक-दो या कुछेक को मारता है, पर विचारो की हत्या करने वाला अगणित लोगो की मानसिक हत्या कर डालता है। दूसरो के विचारो के साथ उतना ही न्याय किया जाए, जितना अपने लिए चाहे।" दूसरो के प्रति न्याय सहिष्णुता और प्रेम की स्थिति मे ही किया जा सकता है। निष्क्रिय सहिष्णुता और सामुदायिक प्रेम की वृद्धि के लिए धर्म के मूलभूत तथ्यो का ज्ञान और आचरण अपेक्षित है। इस भूमिका पर आचार्यश्री ने सम्प्रदाय-मैत्री की भावना को बहुत सपुष्ट किया।

समन्वय की उदार भावना के लिए आचार्यश्री अनेकान्त दृष्टि के अतिरिक्त सिद्धसेन, समन्तभद्र, अकलक, हरिभद्र, हेमचन्द्र आदि जैन आचार्यो के विचारो से भी प्रभावित है। वे प्रवचन के प्रारम्भ मे समन्वय मूलक श्लोको को गाते रहे है—

भव बीजाकुर जनना, रागाद्या क्षय मुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जनोवा नमस्तस्मै॥

जिसके ससार बीज को अकुरित करने वाले राग-द्वेष नष्ट हो चुके है, उसे मैं नमस्कार करता हूँ, भले फिर उसका नाम ब्रह्म हो या विष्णु, हर हो या जिन।

आचार्यश्री एक सम्प्रदाय के आचार्य होकर भी सम्प्रदायो की सच्चाई को स्वीकार करते रहे है। इसलिए उनका स्वरूप सम्प्रदायस्थ होते हुए भी सम्प्रदायातीत है। चौराहे पर खडा होकर गोली दागने वाला कोई उदार नही होता और कोठरी मे बैठकर मानवता को विकसित करने वाला कोई सकीर्ण नही होता।

आलोचना और प्रतिक्रिया

आलोचना के बारे मे हमारा एक सिद्धान्त है। उसके अनुसार व्यक्ति की आलोचना नही की जाती, आलोच्य विषय की आलोचना की जाती है। आचार विकृत न बने, विचार लोक-प्रवाही न बने, इसलिए स्थिति को बनाये रखने के लिए आलोचना

आवश्यक है। सत्य को प्रकाश में लाना आवश्यक है। आलोचना जिस पर लागू होती है उसमें विरोध उभरता है। यह बड़ी उलझन है। मौन विकार लाता है और आलोचना विरोध। विकार बढ़े, यह भी उचित नहीं। विरोध बढे, यह भी अवांछनीय है। आलोच्य विपय की आलोचना भी हो और विरोध भी न बढ़े। ऐसा मध्यम-मार्ग कठिन है।

आचार्यश्री ब्यावर[1] में प्रवचन कर रहे थे। प्रसंगवश कहा—"साधुओं के लिए मकान नहीं बनना चाहिए। यदि बने तो नाम बदलने मात्र से क्या हो? राजाओं के मकान को महल, सेठों के मकान को हवेली, वैसे ही साधुओं के मकान को मठ या स्थानक कहा जाता है। इनमें नाम भेद है, अर्थ भेद नहीं।" इसे सुन स्थानकवासी लोगों के मन में विरोध उभर आया। उन्होंने आचार्यश्री से यह कहलाने का यत्न किया कि भविष्य में इस तथ्य को नहीं दोहराया जाएगा। आचार्यश्री को तेरापंथ का नेतृत्व सम्हाले केवल छः मास हुए थे। उस समय उनकी अवस्था २२ वर्ष की थी। किन्तु उनके पीछे पौने दो सौ वर्ष की परम्परा थी। उसका अनुभव था। उन्होंने कहा—"मैंने तथ्य परक आलोचना की है, व्यक्ति परक नहीं। सिद्धान्त परक आलोचना की है, द्वेष मूलक या स्वार्थ मूलक नहीं। भविष्य में इस तथ्य को कभी नहीं कहूँगा—इसके लिए मैं वचनबद्ध कैसे हो सकता हूँ?" आचार्यश्री का यह परम्परा लब्ध स्वभाव आज भी वैसा ही है। वे जहां कहीं भी खामी देखते हैं उसके प्रति अपनी असहमति प्रकट कर देते हैं। एलोरा की गुफाओं के अवलोकन के बाद आचार्यश्री ने कहा—"इन गुफाओं में जैन, बौद्ध और वैदिक संस्कृति की त्रिवेणी प्रभावित हुई है। लगता है—संघर्ष के युग में भी यह एक समन्वयात्मक प्रयास किया गया था। हमें ऐसी मूर्ति नहीं मिली, जो खण्डित न हो। समन्वय की प्रतीक इन गुफाओं में यह असहिष्णुता की पराकाष्ठा है।"[2]

बोध गया के पुरातत्व-संग्रहालय में बुद्ध की एक त्रैलोक्य-विजय की मूर्ति है। उसके पैर शिव की छाती पर टिके हुए हैं। उसे देख आचार्यश्री ने कहा—"क्या श्रमण संस्कृति का यही स्वरूप है?" ऐसी मूर्ति जिसने बनवाई है, उसने श्रमण संस्कृति का यश उज्ज्वल नहीं किया है, महात्मा बुद्ध की भावना को आगे नहीं बढ़ाया है।" आलोचना में संतुलन है, विवेक है।

कभी-कभी तेरापंथ का इतिहास बतलाने में भी स्थिति जटिल बन जाती है। आचार्यश्री उन दिनों[3] जोधपुर में थे। सांवत्सरिक पर्व था। प्रवचन में, तेरापंथ का प्रवर्तन किन स्थितियों में हुआ, इस पर प्रकाश डाला गया।

सांवत्सरिक दिन जैन जगत के लिए उत्कृष्ट पर्व है। उस अवसर पर जीव-मात्र से क्षमा ली-दी जाती है। उस समय श्री वर्धमान श्रमण संघ के उपाचार्यश्री गणेशी-

---

१. वि० सं० १९९३।
२. जैन भारती, १७ अप्रैल १९५५।
३. वि० सं० २०१०।

लालजी महाराज आदि वही थे। आचार्यश्री ने श्रावको से कहा—"सावत्सरिक पर्व है। इस अवसर पर सभी साधुओ से क्षमा-याचना की जाए।" आचार्यश्री का सकेत पा वे लोग गए। वातावरण अच्छा बना। दूसरे दिन उनके श्रावक भी सम्मिलित हो आचार्यश्री के पास गए। क्षमा-याचना की। आचार्यश्री ने उनसे क्षमा मागी। बीच मे ही एक व्यक्ति बोल उठा—"इस क्षमा याचना से क्या होना-जाना है, कल ही तो आपने हमारे सम्प्रदाय के बारे मे विष उगला है।" लोग अवाक् से रह गये।

आचार्यश्री ने कहा—"मैंने अपनी स्थिति स्पष्ट की, किसी के प्रति भी ओछी बात नही कही। इतिहास के जो तथ्य थे, वे रखे। इसे आप विष उगलना मानें तो भले मानें।" इतने मे एक व्यक्ति सुजानसिंहजी ढड्ढा खडा हुआ। वह उन्ही के सम्प्रदाय का था। उन्ही के साथ आया था। उसने कहा—"मैं कल आदि से अन्त तक आचार्यश्री के प्रवचन मे था। मैं अपने इकलौते बेटे की सौगन्ध खाकर कहता हूँ—आचार्यश्री ने अपने प्रवचन मे ऐसा एक भी वाक्य नही कहा—जिसे आक्षेप कहा जा सके।" कभी-कभी मूर्ति का प्रकरण भी वाद बढा देता है। आचार्यश्री स्पष्ट कहते हैं। "मूर्ति-पूजा मे मेरा विश्वास नही है। मैं चैतन्य की उपासना मे विश्वास करता हूँ", इस विचार को भी अनेक बार तूल दिया गया। "ईश्वर कर्तृत्व मे मेरी आस्था नही है। मैं मनुष्य को ही अपने भाग्य का विधाता मानता हूँ।" इस विचार को भी कुछ ईश्वरवादियो ने अपने पर आक्षेप समझा।

आचार्यश्री ने क्रान्ति और समन्वय के सगम पर खडे होकर अनेक परिस्थितियो का सामना किया है। कुछ विरोधी लोगो की धारणा मे आचार्यश्री का बाहरी रूप समन्वय और आन्तरिक रूप सम्प्रदाय सवर्धन है। कुछ अनुयायियो ने यह प्रचार किया कि आचार्यश्री समन्वय के मोह मे फस अपने सिद्धान्तो को स्पष्ट शब्दो मे नही रख रहे हैं। अपनी-अपनी दृष्टि से दोनो सही हैं। वस्तु-स्थिति दोनो से दूर है। पहले वर्ग ने आचार्यश्री के मानस को नही पकडा और दूसरे वर्ग ने आचार्यश्री की भाषा और शैली को नही पकडा। आचार्यश्री के नेतृत्व मे आगम-सम्पादन का कार्य हो रहा है। उन्होने हम लोगो से अनेक बार कहा—"गवेषणा-कार्य मे सम्प्रदाय की दृष्टि प्रधान नही होनी चाहिए। कोई ऐसा तथ्य सामने आए, जो सम्प्रदाय-सम्मत न हो और उसकी सचाई अबाधित हो तो, उसे स्वीकार करने मे हमे कोई सकोच नही होना चाहिए।" प्रयाण गीत मे उन्होने लिखा है—

> आत्म-शुद्धि का प्रश्न जहा है
> सम्प्रदाय का मोह न हो
> चाह न यश की और किसी से भी कोई विद्रोह न हो
> स्वर्ण विघर्षण से ज्यो सत्य निखरता संघर्षों के द्वारा
> प्रभु तुम्हारे पावन पथ पर जीवन अर्पण हो सारा।

आचार्यश्री मे आग्रह का भाव कतई नही है, यह तो कौन कैसे कह सकता है। पर तथ्यो को समझ लेने पर सम्प्रदाय की परम्परा उनके ऋजु और अनाग्रही मानस

को नहीं बांध सकती, यह कहने में कोई कठिनाई नहीं है।

आचार्यश्री कुछ वर्ष पहले तक चर्चावाद में भी समय लगाते थे। वर्तमान में उनका इसमें कोई रस नहीं है। जिज्ञासा देखते हैं तो अपना अभिमत समझाने का यत्न करते हैं। केवल वाद के लिए वाद जान पड़ता है तो वे थोड़े में ही छुट्टी पा लेते हैं। वे स्पष्ट शब्दों में कह देते हैं—"मेरा अभिमत यह है। आपको जंचे तो आप मानें, समझ में न आये तो फिर सोचें। यदि मुझे पराजित करने से आपकी तृप्ति होती हो तो आप मुझे वाद-विवाद में घसीटे विना ही मान सकते हैं कि आप जीत गये, मैं हार गया।" उज्जैन[1] में एक ऐसा ही प्रसंग बना और आचार्यश्री के इस उत्तर ने विवाद की ज्वाला को एक जल-कण से ही शांत कर दिया।

आचार्यश्री का अनेक लोगों से विचार-भेद है। और उनसे भी है, जो उनके बहुत निकट सम्पर्क में हैं। वे दूसरों से उदारता चाहते ही नहीं हैं, उन्हें देते भी हैं। इसलिए वे किसी भी धर्म-स्थान में विना किसी झिझक के चले जाते हैं। जैनों, वौद्धों व वैष्णवों के मन्दिर, गुरुद्वारा, मस्जिद, दरगाह, चर्च आदि धर्म-स्थानों में वे गये हैं। वहां भगवान् की स्तुति की है, प्रार्थना की है। इसे उनके कुछ अनुयायियों ने अनावश्यक माना और वहां जो कुछ समन्वय की भाषा में कहा उसे सैद्धान्तिक अस्पष्टता माना। इसलिए माना कि वे आचार्यश्री की भाषा को समझ सकें, उतनी क्षमता प्राप्त करने का उन्होंने यत्न नहीं किया।

दूसरों की भावना पर चोट न हो, इसे आचार्यश्री ने बहुत गहराई से पकड़ा है। इसलिए वे ऐसी भाषा के प्रयोग के पक्ष में हैं, जिससे अपने अभिमत की हत्या भी न हो और दूसरों को आघात भी न लगे। वे जहां गये, वहां उनकी विधि का अनादर नहीं किया तो अपनी विधि का भंग भी नहीं किया। एक गुरुद्वारा में आचार्यश्री का प्रवचन रखा गया। अन्दर जाते समय एक व्यक्ति ने विनम्र भाव से कहा—"सिर ढंके विना अन्दर जाने की विधि नहीं है।" आचार्यश्री ने कहा—"सिर ढंकना हमारी विधि नहीं है।" प्रवचन नीचे खुले में ही हुआ। इसी प्रकार आचार्यश्री अजमेर की प्रसिद्ध दरगाह में गये। वहां के अधिकारी ने कहा—"सिर ढंके विना अन्दर नहीं आ सकते।" आचार्यश्री ने कहा—"अच्छी वात है।" आचार्यश्री वापस जाने को मुड़े। उन्होंने कहा—"आप चले क्यों जाते हैं?" आचार्यश्री—"इस प्रकार सिर ढंकें, यह हमारी विधि नहीं है।" उन्होंने कहा—"तो आप आ सकते हैं।" आचार्यश्री—"आपको कोई आपत्ति न हो तो?" उनकी हृदय से अनुमति मिली तव वहां गये और एक संक्षिप्त प्रवचन किया। आचार्यश्री ने कहा—"जो लोग धर्म को संघर्ष का साधन बना लेते हैं, वे धर्म के नाम पर अधर्म को पोषण देते हैं। धर्म को जाति के आधार पर बांटना उचित नहीं। जातियों के विभाग का आधार सामाजिक स्थिति है। धर्म जीवन-शोधन का तत्त्व है। वहां हिन्दू-मुसलमान का कोई भेद नहीं।"[2]

---

१. वि. स. २०१२।

२. जैन भारती १९५६।

राणकपुर का जैन-मन्दिर निर्माण कला की दृष्टि से प्रसिद्ध मन्दिरो मे से एक है। कलकत्ता से लौटते समय आचार्यश्री वहा पहुँचे। स्वाध्याय के लिए मन्दिर मे गये। स्वाध्याय के पश्चात् लोगो ने चाहा थोडा प्रवचन हो। एक जैन भाई बोल उठा—"मन्दिर के प्रागण मे प्रवचन नही हो सकता।" आचार्यश्री ने कहा—"भगवान् के सामने उन्ही की वाणी का पाठ न हो, यह तो आश्चर्य की बात है। फिर भी यदि आपको आपत्ति है तो हमे क्या ? प्रवचन बाहर हो जायगा।" फिर वहा के प्रबन्धक आये और प्रवचन करवाया। आचार्यश्री ने कहा—" मैं नहीं चाहता किसी की विधि का भग हो। हम जहा जाए, वहा की विधि का भग करें, यह हमारी सहृदयता नही है। हमे विनम्रता से उनकी विधि का सम्मान करना चाहिए।" आचार्यश्री मे दूसरो की विधि को तोडने का भाव नही है तो अपनी विधि के प्रति उपेक्षा का भाव भी नही है। 'खण्डनात्मक या निन्दात्मक बातो के प्रति हमारी विरक्ति रहे' तेरापथ के इस नीति-सूत्र को आचार्यश्री ने बहुत पुष्ट किया है। गगाशहर की बात है।[1] एक स्थानकवासी सम्प्रदाय के मुनि आये। आचार्यश्री से समय मागा। आचार्यश्री ने सद्भावना के साथ उन्हे समय दिया। आचार्यश्री को उनकी भावना का पता नही था। इसलिए पूछा—"आप किस विषय मे बात करना चाहते हैं ?" उन्होंने कहा—"मेरे आचार्य के दुर्व्यवहारो का सारा विवरण मैं आपको सुनाना चाहता हूँ।" आचार्यश्री ने तत्काल अपना रुख बदलते हुए कहा—"इससे क्या लाभ होगा ? आप अपनी कठिनाइयो को अपने आचार्यश्री के पास ही प्रस्तुत करें। उसका कोई परिणाम होगा। मेरे सामने आप उनकी ओछी बात करेंगे, उससे आपको कोई लाभ नही होगा। मैंने अपना समय इसलिए नही दिया है।" आचार्यश्री उठ खडे हुए और अपने कार्य मे लग गये।

जिस प्रकार दूसरो की निन्दा मे रस नही है, उसी प्रकार अपने विचारो की आलोचना का भय भी नहीं है। तेरापथ के मन्तव्यो पर बोलने के जितने अवसर आचार्यश्री को मिले हैं, उतने सम्भवत किसी को नही मिले हैं। तेरापथ के मन्तव्यो को विचारको के समक्ष रखने का जो प्रयत्न आचार्यश्री ने किया है, वह आज तक किसी ने नही किया। तेरापथ के मन्तव्यो की आचार्यश्री ने जिस तुलनात्मक पद्धति से बुद्धि-सगत व्याख्या की है, वैसी किस ने की है ? तेरापथ के मन्तव्यो पर आचार्यश्री को जितना गौरव है, उतना सर्व-सुलभ नही है। उनके प्रवचन, प्रश्नोत्तर, वार्तालाप और जीवन-प्रसग इन तथ्यो के स्वय साक्षी हैं।

जनता जैसे अणुव्रत-आन्दोलन से प्रभावित है वैसे ही आचार्यश्री के सगठन और धार्मिक-व्याख्याओ से प्रभावित है।

मेरा पंथ

आचार्य भिक्षु ने 'तेरापथ' इस नाम की व्याख्या की थी—"हे प्रभो ! यह

---

[1] वि स २०००

तेरापंथ।" आचार्यश्री तुलसी ने इसके साथ एक व्याख्या और जोड़ दी—"मानव ! यह तेरा पंथ।" ये दोनों व्याख्याएं बड़ी हृदयग्राहिणी हुईं। लोकसभा के अध्यक्ष अनन्तशयनम् आयंगर ने तेरापंथ की व्याख्या सुनते ही कहा—"यह तेरा नहीं है, यह है मेरा पंथ।"

नाम की महिमा

डा० मोहनसिंह इस नाम पर झूम उठे। उन्होंने लिखा—"मुझे तेरापंथ का नाम बहुत प्रिय है। वास्तव में नाम ही किसी संस्था का प्राण हुआ करता है। एक बार गुरु नानकदेव ऐसे ध्यान-मग्न हुए कि एक-दो गिनते-गिनते तेरह तक आए और अपने को सर्वथा भूल गए। वास्तव में नाम में बड़ी शक्ति है। क्राइस्ट का वास्तविक नाम जेसस था। क्राइस्ट का अर्थ है—तपस्या पर विजय पाने वाला। मुझे तेरापंथ नाम से मस्ती छा गई।"[1]

अर्थ से अलिप्त

राजघाट पर आचार्यश्री और विनोबा भावे के बीच वार्तालाप हुआ। जैनेन्द्रकुमारजी भी वहीं थे। उन्होंने तेरापंथ का परिचय देते हुए विनोबाजी से कहा—"यह एक बहुत बड़ी शक्ति है। साधुओं और श्रावकों का बड़ा भारी बल है। विशेष बात यह है कि पूंजी इनके पैरों में लुटती है, ये पूंजी के पीछे नहीं हैं। विनोबाजी ने कहा—"यही होना चाहिए। महात्मा गांधी भी इस प्रवृत्ति को पसन्द करते थे।"

महान् दार्शनिक का पथ

उन दिनों डा० सतकोडी मुखर्जी कलकत्ता विश्वविद्यालय के दर्शन-विभाग के अध्यक्ष थे। दिल्ली में मिले। उन्हें तेरापंथ के मन्तव्य बताए। वे बोले—"आचार्य भिक्षु मारवाड़ में पैदा हुए। यदि वे जर्मनी में पैदा हुए होते तो वे जर्मन दार्शनिक काण्ट से कम विश्रुत नहीं होते।" तेरापंथ उन्हीं आचार्य भिक्षु का राजपथ है।

हृदय-परिवर्तन

उन दिनों डा० राजेन्द्रप्रसाद विधान परिषद् के अध्यक्ष थे। जयपुर में आचार्यश्री से मिलने आए। वार्तालाप के प्रसंग में आचार्यश्री ने आचार्य भिक्षु के हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए कहा—"बलात् या प्रलोभनवश जीव-वध रोकना अहिंसा नहीं है। अहिंसा तो व्यक्ति का हृदय बदलने पर ही होती है।" इसके प्रसंग में राजेन्द्रबाबू ने कहा—"एक बार गांधीजी के सामने भी ऐसा प्रसंग आया था। गाय की रक्षा

---

१. जैन भारती १२ दिसम्बर, १९५०

को लेकर हिन्दु-मुसलमानो मे लडाई हो जाती थी। कभी-कभी हिन्दु गौ को बचाने के लिए मुसलमानो को मार भी डालते थे। इस पर गाधीजी ने कहा—"गौ रक्षा का यह सही मार्ग नही है। मुसलमानो के हृदय-परिवर्तन करो, जिससे गौओ को मारने की भावना ही उनमे न उठे। मनुष्य को मार कर यदि गाय का बचाया तो क्या रक्षा हुई ?"

अहिंसा की आराधना

डा० एफ० डबल्यू टमास[1] जैन-दर्शन की जानकारी के लिए आचार्यश्री के पास आए। कई दिन रहे। उन्होंने जाते समय कहा—"बीदासर मे तेरापथी समाज से मिल कर, आचार्यश्री के दर्शन का सौभाग्य पाकर, इतने विद्वान् व विनीत-साधु-साध्वियो से मिलकर, मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई। साधु और साध्वियो की धर्म पर दृढ आस्था, सत्यनिष्ठा, गृहस्थो का भक्तिभाव विसवाद रहित है। तेरापथी-गण जैन धर्म के त्याग-वैराग्य का सम्पूर्ण पालन करता है और वह सासारिक कार्यो से निर्लिप्त रहता है। इसलिए उस पर दूसरो के प्रति सम्वेदना-साहित्य के आक्षेप का अवसर मिलता है। किन्तु उनके अहिंसा के महान् सिद्धान्त और उनकी कार्यकारी दयालुता व मैत्री-भाव से वह आक्षेप सर्वथा निर्मूल हो जाता है।"

तेरापथ के सिद्धान्त से वे लोग सहमत नही होते जो कोरे सम्वेदनशील होते हैं। जिनमे सम्वेदनशीलता के साथ-साथ यथार्थता का भाव होता है और जिन्हे मोक्ष के अस्तित्व मे आस्था होती है, उसके स्वभाव का ज्ञान होता है, वे पूर्ण सहमत न भी हो परन्तु पूर्ण असहमत भी नही होते। अहिंसा और सयम के विशुद्ध-दृष्टिकोण ने अनेक विद्वानो को प्रभावित किया है। धर्म और कर्तव्य एक ही नही है। इस व्याख्या ने अनेक विचारको के सम्मुख विचार-सामग्री प्रस्तुत की है।

संघ-व्यवस्था का प्रतीक—मर्यादा-महोत्सव

सघ सिद्धान्तो का प्रतिविम्ब होता है। उनकी विशालता उसीसे नापी जाती है। तेरापथ के विनम्र व हृदय-प्रेरित अनुशासन और आचार्य केन्द्रित व्यवस्था सचमुच आश्चर्य की वस्तु है। उसका प्रतीक है—मर्यादा-महोत्सव। वह माघ शुक्ला सप्तमी को मनाया जाता है। उस दिन आचार्यश्री आचार्य भिक्षु की मर्यादावलि का वाचन करते हैं। साधु-साध्वी गण पक्तिवद्ध खडे हो उसे दोहराते हैं और अपनी सहर्ष स्वीकृति प्रकट करते हैं।

कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा को चातुर्मास समाप्त होता है। उस समय साधु-साध्वी-गण, जहा आचार्य होते हैं, उस ओर विहार कर देते हैं। वे बीच मे विशेष परिस्थिति

---

१ लन्दन के आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के सस्कृत प्राध्यापक डा. एफ डब्लयू टमास एम. ए, पी एच डी, सी आई. ई.

के विना एक गाव मे दो रात नहीं रहते। अविच्छिन्न पाद-विहार आचार्यश्रीके पास आ जाते हैं। आगमन के प्रथम क्षण मे जो 'सिंघाडा' के प्रमुख होते हैं, वे पुस्तकों को, अपने सहयोगी साधु-साध्वियो और अपने आपको आचार्यश्री के चरणो मे समर्पित करते हैं। समर्पण की भाषा यह होती है—"गुरुदेव! ये पुस्तकें, ये साधु (साध्विया) और मैं—सब आपकी सेवा मे प्रस्तुत हैं। आप जहा रखेंगे वही हम रहेंगे।" इस समर्पण के बाद ही वे अन्न-जल ग्रहण करते हैं। तीन दिन के भीतर-भीतर वे अपना लिखित वार्षिक विवरण आचार्यश्री के सामने प्रस्तुत करते हैं। लगभग १२५ सिंघाडे हैं। उनके उतने ही विवरण-पत्रो को आचार्यश्री स्वय पढ़ते हैं। उनके बारे में जो निर्देश देने हो, वे देते हैं। प्रत्येक सिंघाडे की चर्या और रहन-सहन का मौखिक विवरण सुनते हैं।

शिशिर ऋतु जनता के लिए शरीर-पोषण का समय है, तेरापथ के लिए ऐक्य-पोषण का और आचार्य के लिए श्रम का समय है। वसन्त पचमी से आगामी वर्ष की व्यवस्था का प्रारम्भ होता है। वह दृश्य बडा मनहारी होता है, जब आचार्यश्री 'सिंघाडे' के अग्रणियो को आगामी वर्ष के विहार का निर्देश देते जाते हैं और वे कर-बद्ध खडे हो, उसे स्वीकार करते जाते हैं। विनय और वात्सल्य का ऐसा अनुपम दृश्य इस युग मे सहज-सुलभ नही।

उन दिनो आचार्यश्री राजलदेसर[1] मे थे। पैरिस विश्वविद्यालय के सस्कृत प्राध्यापक लुई रेन्यू और डा० सूर्यकान्त एम० ए०, डी० लिट, डी० फिल० वहा आए। उन्होंने महोत्सव देखा। अगले वर्ष के विहार निर्देश का उल्लेख करते हुए डा० सूर्य-कान्त ने लिखा है—"तीन घटो के कार्यक्रम के बाद आचार्यश्री ने साधु-साध्वियों के छोटे-छोटे सघ निर्धारित किए। उन्हे भारत के कोने-कोने मे पाद-विहार करने का आदेश दिया। ऐसे ही सघो ने बौद्ध-धर्म को भारत के बाहर प्रतिष्ठित किया था। ऐसे ही सघो ने जैन-धर्म की भारत मे दुदभि बजाई थी। सैकडो वर्षो के बाद फिर से अहिंसा के पुजारियों ने अहिंसा प्रतिष्ठापना का सकल्प लिया है और अशान्त ससार को शान्ति का सदेश देने का आयोजन किया है।"[2]

त्रिवेणी-संगम

तेरापथ मे श्रद्धा, बुद्धि और कला—तीनो को मान्यता प्राप्त है। अपने लिए जहा श्रद्धा प्रधान होती है वहा दूसरो के लिए बुद्धि। बुद्धि का प्रयोग केवल दूसरो को प्रभावित करने के लिए नही होना चाहिए, तो श्रद्धा को दूसरो के सामने अवगुंठित ही नही रखना चाहिए। तेरापथ के प्रति आचार्यश्री का दृष्टिकोण जितना श्रद्धाशील है, उतना ही विवेचक है। इसलिए वे प्रत्येक तथ्य को विवेचन के साथ प्रस्तुत करते हैं। उन दिनो अलगूराय शास्त्री उत्तरप्रदेश काग्रेस के उपाध्यक्ष और केन्द्रीय विधान

---

१. वि० स० २००५
२. विशेष विवरण

परिषद् के सदस्य थे। उन्होंने आचार्यश्री के सान्निध्य मे तेरापथ को पढा और जो समझा उसे इस रूप मे प्रस्तुत किया —

"मैंने तेरापथी साधुओ के अनेक कलापूर्ण काम देखे। जैन-दर्शन के विषय मे मैंने पहले से ही कुछ सुन रखा था और करीब २० वर्ष से जैन-धर्म की गम्भीरता से पूर्ण प्रभावित हूँ। कितना बडा पाडित्य हमे यहा देखने को मिला, इसका वर्णन करना असम्भव-सा है।

. . .मैं एक वैज्ञानिक समाज को मानने वाला व्यक्ति हूँ। प्रत्येक बात को वैज्ञानिक ढग से देखता हूँ। आचार्यश्री की आत्मा कितनी ऊची है। ये व्यवहार की बात करके भी परमार्थ की ओर जाते हैं। अपने आदर्श से नीचे बिल्कुल नही उतरते, इसका मैंने पूर्ण अनुभव किया है।"

प्रो० तान-युन-शान चीन भवन (शातिनिकेतन) के अध्यक्ष हैं। वे कई बार तेरापथ को निकटता से देख चुके हैं। जयपुर मे वे आचार्यश्री के सान्निध्य मे आये। तब उन्होने लिखा था—"मैं जयपुर मे अब से ५ वर्ष पूर्व भी आया था और अब दूसरी बार श्री जैन श्वेताम्बर तेरापथ के आचार्यश्री के दर्शनार्थ आया हूँ। मुझे यहा की सुन्दर सडको, चौडे रास्तो व खूबसूरत इमारतो ने आकर्षित नही किया, बल्कि आचार्यश्री तुलसीगणी के सदाचरणयुक्त महान् कार्यो ने अत्यन्त प्रभावित किया।

श्री जैन श्वेताम्बर तेरापथ सम्प्रदाय के साधु बडी कठिन तपस्या का जीवन बिताते हैं। उनका जीवन परम पवित्र और सरल है। जहा तक मैं जानता हूँ, मैंने किसी भी धर्म के अनुयायियो को इतनी कठिन प्रतिज्ञाओ का पालन करते नही देखा। इस सम्प्रदाय के साधु-साध्वी कला कार्य मे भी स्तुत्य हैं। भिक्षापात्र, हस्तलिखित धर्म-ग्रथ, रजोहरण आदि कलामय वस्तुओ को देखकर व्यवसायी कलाकारो को भी नत-मस्तक होना पडता है।"

फलित

आचार्यश्री ने तेरापथ के सिद्धान्तो और प्रवृत्तियो को प्रकाश मे ला विद्वानो को प्रभावित किया है, यह उनके जीवन का एक पक्ष है। दूसरा पक्ष यह है कि तेरापथ की परम्पराओं मे कुछ परिवर्तन ला अपने अनुयायियो से भी विरोध मोल लिया है।

आचार्यश्री को जितना यश मिला है, उससे कही अधिक उन्हें कटु आलोचनाए सुनने को मिली हैं। उनके जो श्रद्धालु श्रावक थे, वे आलोचक बन गये। उनके कुछ साधु उनसे अलग हो गये। सघर्षो का ज्वार आया। आचार्यश्री जैसे-जैसे मृदु होते गये, वैसे-वैसे कुछ अनुयायी कठोर होते गये।

तेरापथ की परम्परा के अनुसार जो कार्य आचार्य करते हैं, उसका अनुसरण समूचा सघ करता है। आचार्य जो कहते हैं, उसका अनुमोदन समूचा सघ करता है। जिस प्रश्न का जो समाधान आचार्य देते हैं, उसका वही समाधान समूचा सघ देता है। एक आचार्य, एक आचार, एक निर्णय—ये तेरापथ की अपनी विशेषताए मानी जाती हैं। स्थिरता के समय वे यथावत् रही हैं, किन्तु परिवर्तन के क्षणो का

इतिहास इससे भिन्न भी है। यह सहज भी है। शान्त समुद्र एक रूप होता है। उसमे लहरें तब अनेकता लाती हैं, जब पवन की गति बढती है। चतुर्थ आचार्यश्री श्रीमज्जयाचार्य ने परम्पराओ मे परिवर्तन किया, तब एक तूफान आया था। फिर चार आचार्यों की समय स्थिति शान्त रही। आचार्यश्री ने जैसे ही परिवर्तन का चरण बढाया, वैसे ही इतिहास की पुनरावृत्ति होने लगी। आचार्यश्री के प्रति अश्रद्धा का भाव बढे, वैसे प्रयत्न होने लगे। आचार्यश्री जो कहते, कुछ साधु उससे भिन्न कहते। आचार्यश्री जो निर्णय देते कुछ साधुओ का निर्णय उससे भिन्न होता। लाखो व्यक्तियो को इस स्थिति से कष्ट हुआ। उन्होने इतनी अश्रद्धा, इतना भेद और अनुशासन के प्रति इतनी उदासीनता कभी नही देखी थी। वे तेरापथ मे ऐसा देखना नही चाहते थे। गण की इस स्थिति का कितने प्रमुख व्यक्तियो ने न जाने कितनी बार आचार्यश्री के सम्मुख भयावह चित्र खीचा। आचार्यश्री स्वय भी ऐसी स्थिति लाना नही चाहते थे। उन्होने सबको साथ चलने के लिए जी-भर प्रयत्न किये। पर आरम्भ मे वे पूर्ण सफल नहीं हुए। आचार्यश्री जो परिवर्तन लाना चाहते थे, वह उन्हें इष्ट नही था और वे पूर्ववत् स्थिति बनाये रखने के पक्ष मे थे, वह आचार्यश्री को इष्ट नही था। इस स्थिति मे जो विरोध या विभेद हुआ, वह उस परिवर्तन का निश्चित परिणाम था। आचार्यश्री जैसे परिवर्तन को आवश्यक मानते थे, वैसे ही उसके निश्चित परिणाम को भी वे जानते थे। इसलिए वे उस अप्रिय स्थिति से भी खिन्न नही थे। सच्चाई यह है कि तेरापथ को नया रूप देकर उन्होंने खोया कुछ भी नही, पाया बहुत है। उसके नेतृत्व मे वे कुछ विफलताओ के उपरान्त भी बहुत सफल रहे हैं। उनकी सफलता- उनकी विफलता मे से ही फलित हुई है। जब दूसरो द्वारा बाधाए खडी की जाए तो समझना चाहिए कि गति हो रही है और जब अपने ही अनुयायियो द्वारा बाधाए खडी की जाए, तब समझना चाहिये कि प्रगति हो रही है। काका कालेलकर जब पहली बार मिले तो उन्होने बताया—"मैं तेरापथ के विरोध ही विरोध मे सुनता रहा हूँ। उससे मुझे जिज्ञासा हुई है। जिसका इतना विरोध है, उसमे अवश्य चैतन्य है। मृत का कही पर भी विरोध नही होता।"

भाई किशोरलाल मश्रुवाला ने हरिजन मे अणुव्रत-आन्दोलन की समालोचना लिखी, तब उनके पास इतना तेरापथ विरोधी साहित्य पहुँचा कि वे चकित रह गए। उन दिनो आचार्यश्री भिवानी[1] मे मर्यादा महोत्सव मना रहे थे। भाई मश्रुवाला ने एक पत्र में लिखा—"जब से मैंने वह टिप्पणी की है तब से मेरे पास आपके विरोधी साहित्य आने लगा है। विरोधी पुस्तको का एक ढेर-सा हो गया है।"

तेरापथ ने विरोध मे अविरोधी भाव को बनाए रखा है। इसीलिए वह अपनी गति से आगे बढ रहा है। आचार्यश्री तुलसी ने उसी आदर्श को अपने मे प्रतिफलित किया है।

---

१. स० २००७

: ३ :

अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्त्तक

"भगवन्। तुम्हारी स्तुति करने मे योगी भी समर्थ नही है और तुम्हारे गुणो के प्रति मेरा भी अनुराग कम नही है, फिर मैं तुम्हारी स्तुति क्यो न करू ?" आचार्य हेमचन्द्र के इन शब्दो मे मैं अपना मार्ग देख पाता हूँ। समूचे विश्व को सुधारने मे बडे-बडे अवतार भी समर्थ नही हुए हैं और कर्तव्य-निष्ठा मेरी भी कम नही है, फिर चरित्र-विकास की प्रेरणा मैं क्यो न दू। भावना के इन्ही दीपो को सजोकर आचार्यश्री ने अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन किया।

शताब्दियो की परतन्त्रता के बाद हिन्दुस्तान स्वतन्त्र हुआ। काग्रेस और मुस्लिम लीग ने सयुक्त रूप मे शासन सम्हाला। हिन्दु-मुस्लिम दगे हुए। इन दगो मे लाखो आदमी मौत के घाट उतरे। जातीयता का नग्न रूप सामने आया। स्त्रियो और बच्चो के साथ निर्दय व्यवहार किए गए। ऐसी स्थिति उत्पन्न की गई कि आखिर हिन्दुस्तान विभक्त हो गया।

पाकिस्तान बना। मुसलमान उधर गए, हिन्दू इधर आए। दोनो राष्ट्र शरणार्थियो से आक्रान्त हो गए। उनके पुनर्वास की समस्या जटिल हो गई।

हिन्दुस्तान का विधान बना और वह २६ जनवरी, १९५० को लागू हो गया। हिन्दुस्तान लोकतन्त्र-प्रणाली से शासित हो गया। सविधान ने सब वयस्को को मत देने का अधिकार दिया। चुनाव हुए। विभिन्न राजनीतिक दलो ने भाग लिया। केन्द्र और लगभग सभी प्रान्तो मे काग्रेस ने शासन सम्हाला।

काग्रेस सरकार ने समाजवादी समाज-व्यवस्था का लक्ष्य निश्चित किया। व्यापार और सम्पत्ति पर विभिन्न कर लगाये। देशी राज्यो का विलीनीकरण हुआ और जमींदारी का अन्त हुआ। अस्पृश्यता को अपराध माना।

खाद्यान्न की कमी थी। उस पर नियन्त्रण किया गया। विकास की योजनाए बनी और उसके लिए बहुमुखी प्रयत्न होने लगे। ये स्थितिया शैशव मे थी। नया निर्वाचन, नया शासन, नया अनुभव और नई व्यवस्था।

महात्मा गाधी इस ससार मे नही रहे। दूसरे प्रमुख नेता अपने-अपने राजनीतिक दलो मे फस गए।

स्वतन्त्रता के सघर्ष मे जो एकता थी, वह टूट गई। आजादी के आकर्षण ने जिन मौलिक समस्याओ पर आवरण डाल रखा था वे क्रमश उभरती गई।

जातिवाद, अस्पृश्यता, साम्प्रदायिकता, अमीरी, महगाई, गरीबी और भिखमगी

ये हिन्दुस्तान की मौलिक समस्याएं हैं। अनुशासनहीनता, पद की लालसा, महत्त्वाकाक्षा, प्रान्तीयता और भाषाई विवाद, ये स्वतन्त्रता के बाद उपजी हुई समस्याएं हैं। इन व इन जैसी और-और समस्याओ से जनता का चरित्र विकृत और मानस उत्पीडित हो रहा था।

शिक्षा बढ रही थी, बुद्धि का विकास हो रहा था। प्राचीन मान्यताएं शिथिल हो रही थी, नये सिद्धान्त जन्म ले रहे थे। धर्म-नेता बुद्धिवादियो को कोसते थे। बुद्धिवादी धर्म और धर्म-नेताओ को अतीत की कहानी बनाने की सोच रहे थे।

कुल मिलाकर जो स्थिति बनी, उसमे ध्वस अधिक था, निर्माण कम, उत्तेजना अधिक थी, चेतना कम। इससे सन्तुष्ट कोई नही था। सामाजिक, धार्मिक और राष्ट्रीय—तीनो क्षेत्रो मे असन्तोष व्याप्त था। चरित्र-पतन और अनुशासनहीनता से सभी का धैर्य विचलित हो रहा था। इन परिस्थितियो मे 'अणुव्रत-आन्दोलन' सामने आया। यद्यपि इसमे कोई नया तत्त्व नही था। वे ही पुराने व्रत और वे ही पुरानी मान्यताएं। किन्तु परिस्थितियो का सही अकन था। उसे वर्तमान रोग के निदान और समाधान के रूप मे प्रस्तुत किया इसलिए जनता ने उसे आश्वासन माना।

आचार्यश्री और उनके सहयोगियो की यह कल्पना नही थी कि अणुव्रत-आन्दोलन का इतना स्वागत होगा और वह इतना व्यापक होगा ? आरम्भ मे उनकी कल्पना यही थी कि जो लोग हमारे सम्पर्क मे हैं, उनका दृष्टिकोण बदले। वे धर्म को केवल उपासना का तत्त्व न मानें उसे चरित्र-शुद्धि के रूप मे स्वीकार करें। धार्मिक का जीवन कितना अनुकरणीय होता है, इसका उदाहरण प्रस्तुत करें। यह विचार एक-दो वर्ष तक मन को आन्दोलित करता रहा। कभी-कभी आपस मे इसकी चर्चा भी चल पडती। आखिर वि० सं० २००५ मे वह पक गया। आचार्यश्री ने मुनि श्री नगराजजी को वर्तमान की बुराइयो और उनके अन्त के लिए व्रतो की सूची बना प्रस्तुत करने का आदेश दिया। उन्होने श्रावको को सामने रखकर एक सूची बनाई। आचार्यश्री ने उसे देखा। फिर कल्पना हुई, इसे और विकसित किया जाए। चिन्तन आगे बढता गया। बुराइयो का संकलन और व्रतो की सूची बनती गई। आखिर एक रूप-रेखा स्थिर हुई और सरदारशहर मे (वि० स० २००५ फाल्गुन शुक्ला २) को आचार्यश्री ने अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन किया। इससे पूर्व प्रायोगिक रूप मे नव-सूत्री[1] और

---

१. नव-सूत्री योजना—
(१) आत्म हत्या करने का त्याग।
(२) मद्य आदि मादक वस्तुओं के सेवन का त्याग।
(३) मास और अण्डा खाने का त्याग।
(४) बडी चोरी करने का त्याग।
(५) जुआ खेलने का त्याग।
(६) पर-स्त्री गमन और अप्राकृतिक मैथुन का त्याग।
(७) झूठा मामला और असत्य की साक्षी का त्याग।
(८) मिलावट कर व नकली को असली बताकर बेचने का त्याग।
(९) तौल-माप में कमी-बेसी करने का त्याग।

तेरह-सूत्री[1] योजना का प्रसार किया जा चुका था। उन्हें लगभग २५ हजार व्यक्ति स्वीकार कर चुके थे। उसे अणुव्रत-आन्दोलन की पीठिका कहा जा सकता है।

अणुव्रत-आन्दोलन का प्रारम्भिक नाम अणुव्रती-सघ है। उसका और आचार्यश्री की लम्बी यात्राओ का आरम्भ एक साथ ही हुआ। जिन दिनो सघ की स्थापना हुई, उसके कुछ ही दिनो बाद व्यवहार-शुद्धि आन्दोलन सामने आया।[2]

---

१ तेरह-सूत्री योजना—
- (१) निरपराध चलने-फिरते जीवों को जान-बूझकर न मारना।
- (२) आत्म हत्या न करना।
- (३) मद्य न पीना।
- (४) मास न खाना।
- (५) चोरी न करना।
- (६) जुआ न खेलना।
- (७) झूठी साक्षी न देना।
- (८) द्वेष या लोभवश आग न लगाना।
- (९) पर-स्त्री गमन न करना, अप्राकृतिक मैथुन न करना।
- (१०) वेश्या गमन न करना।
- (११) धूम्रपान व नशा न करना।
- (१२) रात्रि भोजन न करना।
- (१३) साधु के लिए भोजन न बनाना।

२ मै प्रतिज्ञा करता हूँ कि—

(१) व्यापारी के नाते —मै
- (क) माल की सग्रह खोरी नहीं करूगा, जिससे कि बाजार में उसकी कृत्रिम कमी पैदा हो जाय।
- (ख) बाजार में कृत्रिम माग बढने के कारण बेजा मुनाफा करने के लिए अपने माल के भाव नहीं बढाऊगा।
- (ग) किसी के अज्ञान या जरूरत का लाभ उठाने के लिए ज्यादा कीमत नहीं मागूगा या तौल-माप में कसर नहीं करूगा।
- (घ) भविष्य से आकस्मिक कारणों में भाव बढ जायेंगे इस आशय से मै चीजें बेचने से इन्कार नहीं करूगा। पर अगर कोई अनुचित लाभ उठाने की दृष्टि से मेरा माल खरीदना चाहेंगे तो मै उन्हें माल नहीं दूगा। इस दिशा में मेरे द्वारा खरीददारों को फुटकर बिक्री से तथा एक नियत ही मात्रा में माल बेचने का अधिकार मै रखूँगा।
- (ङ) मै अपने माल की बिक्री-कीमत सही-सही खुले आम बताऊगा।
- (च) मै अपने माल में किसी तरह की मिलावट नहीं करूगा और जानकारी होने पर ऐसी चीज अपनी दुकान में नहीं रखूगा।

खरीददार के नाते—मै
- (क) जिस चीज की बाजार में कमी हो, उसे जरूरत से ज्यादा नहीं खर्च दूगा और कृत्रिम कमी पैदा करने वाली प्रवृत्तियों में सहयोग नहीं दूगा। (शेष पृष्ठ ५८ पर देखें)

जो परिस्थिति थी, उसमे चरित्र-विकास के आन्दोलन बहुत अपेक्षित थे। अणुव्रती सघ एक अभाव की पूर्ति था, इसलिए थोडे समय मे ही वह बहुत प्रख्यात हो गया। जनता ने एक प्रकाश रश्मि के रूप मे उसका स्वागत किया। छोटे-छोटे गावो मे सैकडो की सख्या मे लोग एकत्रित होते, आन्दोलन के व्रतो को सुनते और उन्हें अपनाते।

जयपुर चातुर्मास मे उसे और अधिक प्रसार मिला। उसका पहला वार्षिक अधिवेशन दिल्ली मे हुआ। आन्दोलन को सार्वजनिक रूप यही मिला। नये-नये आन्दोलन के प्रति जो आकर्षण था, वह स्वय अपनी अपेक्षा का साक्षी था।

उस समय आचार्यश्री का परिचय एक रूढिवादी धर्माचार्य और सम्प्रदाय-नेता के रूप मे था। उनके द्वारा प्रवर्तित आन्दोलन असाम्प्रदायिक हो सकता है, यह कल्पना भी लोग नही कर पा रहे थे। आन्दोलन रचनात्मक नहीं है, केवल नकारात्मक है। अपने सम्प्रदाय को बढाने के लिए यह एक जाल रचा गया है। इस कोटि की अनेक प्रतिक्रियाए चल रही थी। फिर भी पहले अधिवेशन मे आन्दोलन का जो रूप बना, वह कल्पनातीत सुखद था। उसी के आधार पर आचार्यश्री को यह विश्वास हो गया कि आन्दोलन को स्वय चलना है। जनता को इसकी अपेक्षा है। उसकी पूर्ति में थोडा-सा हमारा योग मिले, इतना ही बस है।

दिल्ली नगर-निगम के प्रागण मे जब सैकडो व्यक्तियो ने समवेत स्वर मे प्रतिज्ञाओ को दोहराया, तब लग रहा था, युग करवट ले रहा है।

समाचार-पत्रो ने उसे जो स्थान दिया वह किसी भी अराजनीतिक आन्दोलन को सभवत नही मिला।

असाम्प्रदायिक रूप

आन्दोलन का दृष्टिकोण आरम्भ से ही असाम्प्रदायिक था। यह जनता को जैन धर्म या तेरापथ मे दीक्षित करने का उपक्रम नही था। इसका विशुद्ध उद्देश्य था—चरित्र-विकास। आचार्यश्री की दृष्टि मे चरित्र-विकास और जैनत्व भिन्न नही है। फिर भी यह सचाई है कि अणुव्रत-आन्दोलन का बाहरी रूप असाम्प्रदायिक और आतरिक

(पृष्ठ ५७ का शेष फुट नोट)

(ख) जिन चिजों के भाव नियन्त्रित किये गये हों, वे नियन्त्रित भाव मे ही खरीदने की मेरी कोशिश रहेगी, पर वे वैसे न मिलें तो मै यथासम्भव उनके बिना ही निभाने की कोशिश करूंगा।

(ग) सुविधा, आराम या सामाजिक कार्यो के लिए कानून को टालकर या गुप्त रीति से चीज नहीं खरीदूंगा।

(घ) मै किसी को रिश्वत नहीं दूंगा और दूसरों की अपेक्षा खुद के लिए बेजा फायदा उठाने के आशय से न किसीसे सिफारिश पत्र ही लूंगा।

(ङ) सरकारी कर्मचारी या सार्वजनिक कार्यकर्त्ता के नाते मै किसीसे रिश्वत या बखशीश नहीं लूंगा और न अपने कर्तव्य पालन में अधिकारी या बडे आदमियों के प्रभाव से च्युत ही होऊंगा। मै ज्यादा से ज्यादा लोगों को शुद्ध व्यवहारी बनाने की कोशिश करूंगा।

रूप साम्प्रदायिक कभी नही रहा।

आन्दोलन का नाम जैन-परम्परा से लिया गया। भगवान् महावीर ने अधिकारी-भेद से धर्म को दो भागो मे विभक्त किया है—मुनि धर्म और श्रावक धर्म। मुनियो के लिए भगवान् ने पाच महाव्रतो की व्यवस्था की और श्रावको के लिए पाच अणुव्रतो और सात शिक्षाव्रतो की। महात्मा बुद्ध ने मध्यम प्रतिपदा का विधान भिक्षुओ के लिए किया। भगवान् महावीर ने मध्यम-मार्ग का प्रतिपादन गृहस्थो के लिए किया। वह है अणुव्रत। वह हिंसा और अहिंसा के बीच का मार्ग है। यथाशक्य अहिंसा का मार्ग है।

हिंसा जीवन का पूर्ण असयम है और अहिंसा जीवन का पूर्ण सयम। पूर्ण असयम मे रहना मनुष्य के लिए अहितकर है, और पूर्ण सयम की साधना कठिन है। अणुव्रत इस चिन्तन का निष्कर्ष है कि मनुष्य पूर्ण सयम न कर सके तो न्यूनतम सयम अवश्य करे।

वह न्यूनतम सयम ही अणुव्रत है। नामकरण करते समय यह विकल्प उठा कि यह आन्दोलन जैन-अजैन सभी के लिए है। तब इसका नाम अणुव्रत-आन्दोलन क्यो रखा जाए? लोग इसे असाम्प्रदायिक कैसे मानेंगे? और-और नाम सोचे गए, पर उपयुक्त नाम जचा नही। आचार्यश्री का यह विचार था कि नाम बहुत बडा और काम छोटा, यह नही चाहिए। अणुव्रत शब्द इस भावना का प्रतिनिधित्व करने मे समर्थ है। छोटे-छोटे व्रतो मे बडा काम हो सकता है, इस सकल्प की पृष्ठभूमि पर आन्दोलन को 'अणुव्रती-सघ' की सज्ञा मिली।

लोग जब आचार्यश्री तुलसी को साम्प्रदायिक मानते थे, तो उनके आन्दोलन को असाम्प्रदायिक कैसे मान लेते। आदि-आदि मे आन्दोलन सम्प्रदाय की दृष्टि से ही देखा जाता रहा। आन्दोलन के पहले वर्ष मे आचार्यश्री जयपुर मे चातुर्मास बिता रहे थे। वहा डा० राजेन्द्रप्रसाद आए। उन दिनो वे भारतीय विधान परिषद् के अध्यक्ष थे। अणुव्रत-आन्दोलन की चर्चा चलने पर उन्होंने कहा—"इसका प्रसार तीव्र गति से होना चाहिए।" आचार्यश्री ने कहा—"हम भी यही चाहते हैं, पर अभी एक कठिनाई है।

डा० राजेन्द्रप्रसाद—"वह क्या?"

आचार्यश्री—"यही कि दूध से जला हुआ छाछ को भी फूक कर पीता है। लोग आन्दोलन को अभी साम्प्रदायिक दृष्टि से देखते हैं।"

डा० राजेन्द्रप्रसाद—"यह दृष्टिकोण अपने आप मिट जाएगा, जैसे-जैसे लोग सम्पर्क मे आएगे।"

आचार्यश्री—हम यही चाहते हैं कि लोग इस भावना को समझे और जिस चरित्र-बल की आवश्यकता है, उसे सहसा पूर्ण करें। आदि मे प्रत्येक प्रवृत्ति को कठिनाई का सामना करना पडता है। अणुव्रत-आन्दोलन भी उसका अपवाद कैसे हो सकता था। किन्तु जिसका मूल प्रकाशमय होता है, उसका भविष्य आवरणमय नही हो सकता। एक-दो वर्ष के सतत प्रयास के बाद आवरण टूट गया, आन्दोलन जनता का बन गया।

व्रत-सूची

आदि में आन्दोलन के व्रतों की संख्या चौरासी थी। फिर जैसे-जैसे वह जनता तक पहुँचा, जैसे-जैसे अनुभव व्यापक हुआ वैसे-वैसे उसमें थोड़ा बहुत परिवर्तन होता रहा। बम्बई के चतुर्मास में उसकी रूपरेखा में परिवर्तन हुआ। तब तक आन्दोलन पांच वर्ष की अवधि पार कर चुका था। हजारों व्यक्ति अणुव्रती बन चुके थे। लाखों व्यक्ति उसके समर्थक हो गए थे। करोड़ों तक उसकी भावना पहुँच चुकी थी। सचमुच जन-मानस में एक आन्दोलन हो रहा था। आचार्यश्री के पास चिन्तन चला कि अब 'अणुव्रती-संघ' का नाम 'अणुव्रत-आन्दोलन' कर दिया जाए। संघ शब्द में एक सीमा की भावना है। आन्दोलन अधिक मुक्त भावना का वाचक है। यह विचार रहा और संघ का नाम अणुव्रत-आन्दोलन हो गया।

आन्दोलन भारत की सीमा के पार पहुँच चुका था। पहले अधिवेशन के समय इंगलैंड और अमरीका के समाचार पत्रों ने आन्दोलन की चर्चा की थी। न्यूयार्क के प्रसिद्ध साप्ताहिक टाइम (१५ मई, १९५०) में 'एटोमिक बॉम्ब' शीर्षक से यह संवाद प्रकाशित हुआ था—

"अन्य अनेक स्थानों के कुछ व्यक्तियों की तरह एक पतला, दुबला, ठिगना, चमकती आँखों वाला भारतीय संसार की वर्तमान स्थिति के प्रति अत्यन्त चिन्तित है। ३४ वर्ष की आयु का वह आचार्य तुलसी है जो जैन-तेरापंथ समाज का आचार्य है। यह अहिंसा में विश्वास करने वाला धार्मिक समुदाय है। आचार्य तुलसी ने १९४९ में अणुव्रती-संघ की स्थापना की थी।......जब समस्त भारत को व्रती बना चुकेंगे तब शेष संसार को भी व्रती बनाने की उनकी योजना है।"

जापान में भी अणुव्रतों की चर्चा हुई। इन सब स्थानों की प्रतिक्रिया भी आचार्यश्री तक पहुँची। संक्षेप में वह यही थी कि आन्दोलन के नियम भारतीय जीवन को दृष्टि में रखकर बनाए गए हैं। बहुत सारे नियम हमारे लिए उपयोगी नहीं हैं। तब आचार्यश्री ने व्रतों की रूप-रेखा में परिवर्तन करने का निर्णय किया। यह आवश्यक भी था। वह रूपरेखा भारत और विशेषतः राजस्थान की परिस्थितियों के आलोक में बनी थी। वह उन्हीं जीवन-परम्पराओं से विशेष प्रभावित हो, यह अस्वाभाविक नहीं। आन्दोलन की व्यापकता के लिए उसे सर्वदेशीय रूप देना आवश्यक था। इसलिए उसमें परिवर्तन किया गया।

परिवर्तन का दृष्टिकोण यह रहा कि असंयम की मौलिक प्रकृति सर्वदा और सर्वत्र एक रूप होती है, इसलिए उसके निवारक व्रतों को ही व्यापक रूप दिया जाए। शेष व्रत उन्हीं के अन्तर्गत हों और देश-काल की आवश्यकतानुसार उनका निर्माण किया जाए—जब जहाँ जो असंयम की मात्रा बढ़े, उसे रोकने के लिए व्रत-निर्माण किया जाए। वे एक देशीय हो सकते हैं। इस प्रकार मूल-व्रतों की संख्या ४२ हो गई। पहली रूप-रेखा में आन्दोलन में श्रेणियां नहीं थीं। तेरह-सूत्री योजना को स्वीकार करने वाले हजारों व्यक्ति अपने आपको आन्दोलन के सदस्य नहीं मानते थे और कुछ लोग ऐसे

भी थे, जो घूस न देने और आयकर देने मे पूरी प्रामाणिकता रखते थे और कुछ लोग इनके पालन मे अपने को अक्षम पाते थे। इन स्थितियो मे यह आवश्यक लगा कि अणुव्रतियो के लिए क्रमिक-विकास के सोपान निश्चित कर दिए जाए। इसी चिन्तन की पृष्ठभूमि पर आन्दोलन के व्रतियो की तीन श्रेणिया निश्चित की गई—

(१) प्रवेशक अणुव्रती।
(२) अणुव्रती।
(३) विशिष्ट अणुव्रती।

प्रवेशक अणुव्रती के लिए ११, अणुव्रती के लिए ४२ और विशिष्ट अणुव्रती के लिए ४ व्रत निश्चित किए गए।

पहली रूपरेखा मे अणुव्रतों की आदि मे (निम्नाङ्कित प्रतिज्ञाओ का पालन अणुव्रती के लिए अनिवार्य है)—अनिवार्यता की भाषा थी। चिन्तन के बाद यह जचा—अणुव्रती व्रत-ग्रहण के लिए अपनी आस्था और सकल्प प्रकट करें, ऐसी भाषा होनी चाहिए। इन दृष्टि से अणुव्रतो की भाषा को अणुव्रती के सकल्पाभिव्यक्ति का रूप मिला।

महान् अनुष्ठान, महान् प्रयत्न

अनुष्ठान अल्प हो और प्रयत्न महान् हो तथा अनुष्ठान महान् हो और प्रयत्न अल्प हो—ये दोनो मार्ग परिणाम-शून्य होते हैं। सफलता का मार्ग यही है कि अल्प अनुष्ठान के लिए अल्प प्रयत्न और महान् अनुष्ठान के प्रयत्न भी महान् हो।

अणुव्रतो का प्रसार एक महान् अनुष्ठान था। महान् इस अर्थ मे कि जन-जन को अणुव्रती बनाना था और इसलिए भी महान् कि जन-जन को असयम से हटा सयम मे स्थिर करना था। आचार्यश्री की इच्छा थी कि सब लोग अणुव्रती बनें। वे अणुव्रती कहलायें या नही, यह उनकी इच्छा पर निर्भर है। किन्तु अणुव्रतो का सकल्प न हो तो अवश्य करें। कुछ बडे कहलाने वाले लोग अणुव्रती बनने से झिझकते थे। उनकी झिझक को देख आचार्यश्री ने कई बार कहा—"बडे कहलाने वाले लोग अपने आपको दूध से धुला मानते हैं। सचमुच वे ऐसे ही हैं तो अच्छी बात है, किन्तु मैं नही समझता कि वे व्रतो की आवश्यता दूसरो के लिए ही क्यो मानते है ?"

आचार्यश्री के इस तर्क ने बहुत प्रेरणा दी कि मनुष्य कहलाने का अधिकारी वही है, जो सही अर्थ मे अणुव्रती है। फिर चाहे वह सहज शुद्ध-भाव से अणुव्रती बना हो या आन्दोलन से प्रेरणा पाकर बना हो। राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद ने जब कहा—"यदि आप मुझे कोई पद दें तो मैं अणुव्रत के समर्थक का पद लेना चाहता हूँ।" आचार्यश्री ने इसके उत्तर मे कहा—"मैं आपको अणुव्रती का पद देना चाहता हूँ।"

जन-जन को अणुव्रती बनाने के लिए आचार्यश्री इन दस वर्षों मे लगभग दस हजार मील की यात्रा कर चुके हैं। लाखो व्यक्तियो से आपका साक्षात्कार हुआ है। एक-एक दिन मे चार-चार, पाच-पाच बार आपने प्रवचन किए। वार्तालाप और समझाने-

बुझाने मे आपका बहुत समय खपा है। छोटे से छोटे व्यक्ति को आपने स्वय समझाया है बडे-बडे शिक्षितो से भी आपने आन्दोलन की चर्चा की है। आप छोटे-छोटे गावो मे, जहा रवि और कवि दोनो ही कठिनाई से पहुँच पाते हैं, वहा आप पहुँचे हैं। आपने अनेक कठिनाइया झेलकर बडे नगरो मे प्रवास किया है। आपने विरोध के तूफानो को सह-कर भी जनता को प्रकाश देने का यत्न किया है और प्रशसा को पचाकर यथार्थ कहा है। एक बार लखनऊ मे आपने कहा—"अणुव्रत-आन्दोलन के प्रशसक व समर्थक बहुत हैं। मैं प्रशसा सुनते-सुनते ऊब चुका हूं। अब मैं समर्थक नही, अणुव्रती देखना चाहता हूँ।" इस सारी तडप के पीछे एक ही उद्देश्य रहा है—जन-कल्याण, चरित्र-विकास आत्मोदय। इसी उद्देश्य की लौ जला कर आप विद्यालयो, कार्यालयो, बाजारो, मुहल्लो आदि विभिन्न स्थानो मे गए और अणुव्रत-आन्दोलन से जनता को अवगत कराया। लोगो ने कही आन्दोलन को जीवन मे स्थान दिया, कही नही भी दिया पर यह अना-वश्यक है, ऐसा कोई कैसे कहता, चरित्र-विकास के विषय मे कोई कैसे दो मत हो सकता है। और इस विषय मे भी दो मत नही हो सकते कि आचार्यश्री ने चरित्र-विकास के लिए इतना तप तपा है, जितना कम लोग ही तप सकते हैं। उनके शिष्य-वर्ग ने भी इस दिशा मे बहुत प्रयत्न किये हैं। महान् अनुष्ठान के लिए आचार्यश्री को सामग्री भी महान् मिली है। आचार्यश्री ने उसे महानता दी है और उसकी महानता ने आचार्यश्री के महान् साध्य की पूर्ति मे महान् योग दिया है।

आलोचकों की दृष्टि मे

जहा समुदाय है, वहा मति-भेद है। जहा मति-भेद है, वहा आलोचना है। इस सामुदायिक जीवन मे ऐसा कोई व्यक्ति या तत्व नही है, जो आलोच्य न हो और जो आलोच्य ही हो। अणुव्रत-आन्दोलन ने आलोचना के अनेक स्तर देखे हैं, प्रवर्त्तक ने और अधिक। आचार्यश्री ने आन्दोलन के बारे मे स्वय जनमत जानना चाहा था। इसलिए अनेक विचारको को आलोचना के लिए प्रेरित किया गया। ध्वसात्मक आलोचना, जो कोरा मानसिक वेग होता है, से आन्दोलन को कोई लाभ न हुआ। तथ्यात्मक आलो-चना ने अवश्य ही समय-समय पर दिशा सकेत दिये हैं।

अहिंसा नियम और संघ का दृष्टिकोण

श्री किशोरलाल मश्रुवाला की तथ्यात्मक आलोचना से चिन्तन का अवसर मिला। उन्होने हरिजन[1] मे लिखा—"इस सघ में सबका प्रवेश हो सकता है, जाति, धर्म, रग, स्त्री, पुरुष आदि का कोई विचार नही किया जाता। इस सघ ने अपने सदस्यो के लिए सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि नाम देकर कुछ विभाग बनाये हैं और उनमे हर एक के अणुव्रत बताये हैं। कुछ नियम तो इतने प्रत्यक्ष हैं कि हर एक को

१. उसका हिन्दी अनुवाद हरिजन सेवक २० मई, १९५०

मानना चाहिए। कुछ ऐसे भी हैं, जिन्हे और ज्यादा कसना चाहिए। लेकिन, सच तो यह है कि युद्ध के बाद दुनिया मे मानव का इतना पतन हो गया है कि वह समाज के प्रति अपने मामूली कर्तव्य भी नही निभा रहा है। इसीलिए यदि यहा उनकी एक-एक करके गिनती की गई है, तो अच्छा ही है।

"यद्यपि यह सघ सब धर्मों के मानने वालो के लिए खुला है और अहिंसा के सिवा बाकी सब व्रतो के नियम-उपनियम साम्प्रदायिकता से मुक्त सामाजिक कर्तव्यो पर निगाह रख कर बनाये गये हैं, लेकिन, अहिंसा के नियमो पर पथ के दृष्टिकोण की पूरी छाप है। उदाहरण के लिए शुद्ध शाकाहार, वह चाहे कितना ही वाछनीय हो, भारत सहित मानव समाज की आज की हालत और रचना को देखते हुए, मास-मछली, अण्डा आदि से पूरा परहेज करने और उनसे सम्बन्ध रखने वाले उद्योगो से भी बचे रहने का व्रत जैनो और वैष्णवो की एक छोटी-सी सख्या ही ले सकती है। यही बात रेशम और रेशम के उद्योग के लिए भी लागू है। (यह देखकर थोडा कतुहल होता है कि मोती और मोतियो के व्यापार का उल्लेख नही किया गया है। यद्यपि उनमे भी उतनी ही हत्या होती है, जितनी कि रेशम मे, हालाकि जैनो मे यह व्यापर काफी फैला हुआ है।)

"लेकिन, ये छोटी-मोटी खामिया छोडकर इतना तो कहना ही चाहिए कि सिद्धान्त और नियम के प्रति लापरवाह आज के रवैये के खिलाफ लोगो का विवेक जगाने की यह कोशिश प्रशसनीय है।"

मासाहार के निषेध मे जैनो ने पहल की है, यह सही है। किन्तु आज यह विषय धार्मिक ही नही रहा है। शरीर-शास्त्र की दृष्टि से भी यह माना जाने लगा है कि मास मनुष्य का खाद्य नही है। शाकाहार का समर्थन आज सभी देशो से हो रहा है, इसलिए इसे साम्प्रदायिक दृष्टिकोण नही कहा जा सकना है।

आचार्यश्री ने यह सोचा कि अणुव्रती को मास नही खाना चाहिए, पर मास खाने वाले अणुव्रती बन ही नही सकते यह भी क्यो? जो व्यक्ति नैतिक-व्रतो की साधना करना चाहें उनके लिए कोई मार्ग होना चाहिए। प्रवेशक अणुव्रती के व्रतो मे मासाहार निषेध का व्रत नही रखा गया। इसे लेकर आचार्यश्री के परिपार्श्व मे ही चर्चा हुई, आचार्यश्री ने मासाहार का व्रत उठा दिया। मासाहार निषेध का व्रत होना चाहिए, यह भी सही दृष्टिकोण है और मासाहार करने वाले अणुव्रत-आन्दोलन के सदस्य न बन सकें यह भी चिन्तनीय है। आचार्यश्री ने इन दोनो मे सामजस्य स्थापित किया। न मासाहार निषेध के व्रत को उठाया और न मासाहार करने वालो को व्रत-साधना से वचित ही रखा।

शक्यता का प्रश्न ?

कुछ आलोचको ने कहा—इसमे घूस न देने व आयकर देने मे प्रामाणिकता रखने का कोई व्रत नही है। अवश्य ही अखरने की बात है। किन्तु किया क्या जाए? आखिर शक्यता व सामाजिक मनोवृत्ति का प्रश्न है।

घूंस लेने का त्याग करना अपना सयम है, पर देने का सम्बन्ध केवल अपने से नही है। इतनी मानसिक दृढता सब लोगो मे नही होती कि अनेक कठिनाइयो को सहकर भी घूस न दे। इस शक्यता की भावना को विचारको ने बहुत ही व्यावहारिक और चल सकने वाला मार्ग बताया। श्री श्रीप्रकाशजी ने लिखा था—"मानवीय प्रकृति की सीमा से सर्वोत्तम है।"[1]

नकारात्मक-दृष्टिकोण

अनेक विचारको ने आन्दलन के नकारात्मक स्वरूप ही आलोचना की। उनका कहना था कि विधेय के विना कोरा निषेध व्यक्ति मे निरुत्साह पैदा करता है। आन्दोलन का रूप रचनात्मक होना चाहिए।

आचार्यश्री ने इसे इस रूप मे मान्य किया कि आन्दोलन अपने ध्येय की दिशा मे रचनात्मक है। चरित्र-निर्माण के जो प्रयत्न है, अभ्यास हैं, वे निषेध नही हैं। उनमे निषेध कोरा दुष्प्रवृत्ति का है, जो आन्दोलन का वाह्य रूप है। उसके आन्तरिक रूप मे आत्मानुभूति की तीव्रता है, जो विधेय ही विधेय है।

सत्य का अणुव्रत

आचार्य विनोवा भावे ने सत्य के अणुव्रत की आलोचना की। उनका अभिमत था कि अहिंसा का अणुव्रत हो सकता है, पर सत्य अखण्ड है, वह महाव्रत ही होगा। उसे विभक्त नही किया जा सकता। आचार्यश्री ने इस पर चिन्तन किया। किन्तु उक्त तर्क हृदय को न छू सका। सत्य अहिंसा से भिन्न नही है। जहा हिंसा है, वहा सत्य नही है। स्वरूपत अहिंसा भी अखण्ड है और सत्य भी अखण्ड है। आचरण की शक्यता के आधार पर ये खण्ड किए गए हैं। ऊचाई अविभक्त होती है, किन्तु मनुष्य एक ही डग मे ऊपर चढ नही सकता। इसलिए सोपान विभक्त होते हैं। अणुव्रत आत्मा की ऊचाई तक पहुँचने के सोपान है। वे जीवन के क्रमिक विकास और अभ्यास के लिए है।

जड़ की बात

कही-कही ऐसा उच्छ्वास मिला कि अणुव्रत-आदोलन जड की बात नही करता, वह केवल ऊपर को छूता है। आर्थिक समस्या का समाधान हुए विना नैतिकता का विकास हो ही नही सकता। आचार्यश्री ने इसे एकान्तिक असत्य नही कहा, किन्तु वे इससे सहमत नही हुए कि जिनके सामने आर्थिक कठिनाई नही है, वे नैतिक ही हैं। नैतिकता को लोगो ने बहुत छोटी सीमा मे बाध रखा है। आक्रमण का मनोभाव क्या अनैतिकता नही है? साम्राज्यवादी मनोवृत्ति क्या अनैतिकता नही है? अनाक्रमण

१. अणुव्रती सघ, पृ० ७७

जीवित शान्ति और अपने अधिकार मे सतुष्ट रहने की भावना का वातवरण पैदा करना आन्दोलन की मुख्य प्रवृत्ति है। क्या यह जड की बात नही है ?

क्या सब नैतिक हो जाए गे ?

कुछ चिन्तनशील व्यक्तियो ने कहा—"भगवान् महावीर हुए, भगवान् बुद्ध हुए, महात्मा गाधी हुए। वे ही समूचे विश्व को नैतिक नही बना सके तो क्या अब आचार्यश्री उमे नैतिक वना देंगे ?"

आचार्यश्री ने कहा—"मैं कब कहता हूँ कि मैं समूचे ससार को नैतिक बना दूगा। हमारा प्रयत्न इसी दिशा मे होना चाहिए कि समूचा ससार नैतिक बने। नैतिकता की लौ जलती रहे। प्रयत्न करने पर भी न बने तो वह हमारे पुरुषार्थ का दोष नही होगा।"

विरोधी प्रतिक्रियाए

अणुव्रत का कार्य आगे बढा। जन-साधारण ने उसे उपादेय माना तो हमारी शक्ति प्रसार मे अधिक लगी। एक नया ऊहापोह खडा हुआ। हमारे अनुयायी जन ही कहने लगे—"आचार्यश्री जनता को जैन बनने पर बल नही देते। तेरापथ के प्रचार की गति शिथिल कर दी है। उनका अधिकाश समय जनता के लिए बीतता है, अपने सम्प्रदाय के लिए बहुत थोडा करते है।"

दूसरी ओर कुछ अजैन लोग यह कहने लगे कि आचार्यश्री अणुव्रत-आन्दोलन के माध्यम से सबको जैन बनाना चाहते है। एक ओर वे प्रतिक्रियाए हुई तो दूसरी ओर कुछ लोगो के सुझाव आए कि यह आन्दोलन बहुत आवश्यक है। इसका प्रचार सतत और तीव्र गति से होना चाहिए। राजगोपालाचार्य ने पहले अधिवेशन के अवसर पर लिखा था—"मेरी राय मे यह जनता के नैतिक एव सास्कृतिक उद्धार की दशा मे पहला कदम है।"

सिन्ध के वयोवृद्ध आर्य नेता ताराचन्द आर० डी० गाजरा ने लिखा था—"आपके विचार उत्कृष्ट हैं और आपका प्रयत्न उत्तम है। पर मैं अपना एक विनम्र सुझाव प्रस्तुत करना चाहूँगा। वह यह कि हमारे सभी अच्छे उद्देश्य इसलिए अपूर्ण रह जाते हैं कि उनके लिए काफी विस्तृत एव तीव्र प्रचार नही किया जाता।

मैं नम्रतापूर्वक निवेदन करूगा कि यदि आप अपने ध्येय मे सफल होना चाहे तो आप भारत और पाकिस्तान की सभी भाषाओ मे लाखो की सख्या मे पुस्तिकाए व पर्चे प्रकाशित करें और उन दोनो देशो के स्कूलो मे मुफ्त बटवाए।"

दूसरी ओर कुछ लोग इस प्रचार मे लगे कि आचार्यश्री कोरे प्रचारक हो गए हैं। प्रशसा की भूख जाग गई है। वे अणुव्रत-आन्दोलन के बहाने अपना सिक्का जमाना चाहते हैं।

इस प्रकार अनेक आलोचनाओ व प्रतिक्रियाओ के तटो के बीच आन्दोलन

प्रवाहित हुआ। उनसे कहीं-कहीं आन्दोलन का कलेवर संकीर्ण भले ही हुआ हो, पर उनसे आन्दोलन आगे बढ़ा है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

संख्या या गुण

आन्दोलन के सामने दो प्रश्न थे—(१) उसके सदस्य अधिक हों या (२) श्रेष्ठता अधिक हो। आचार्यश्री ने दूसरा विकल्प ही चुना। उन्होंने पहले अधिवेशन के अवसर पर कहा—"मुझे बड़ी संख्या का मोह नहीं है और छोटी संख्या की कोई चिन्ता नहीं है। अणुव्रती चाहे थोड़े बनें या अधिक, किन्तु जो बनें वे आदर्श बनें।[1] आन्दोलन की इस भावना को जैनेन्द्रकुमारजी ने इन शब्दों में व्यक्त किया—"अभी अणुव्रतियों की संख्या छः सौ से कुछ ही अधिक है। यह देश तो बहुत बड़ा है। उस सागर में यह संख्या बूंद बराबर समझी जा सकती है। पर संख्या पर ध्यान उतना नहीं है, यह अच्छा ही है। निष्ठा गुण की हो तो संख्या आप ही कहीं से कहीं पहुँच जाती है। मैंने देखा है कि अणुव्रती संघ के पीछे संख्या का लोभ उतना नहीं है, जितना गुण पर आग्रह है। इस तरह की संख्या की अल्पता प्रभूत परिणाम ला सकती है।"[2]

जमनालालजी बजाज ने भी उस समय यही लिखा था—"संघ के सदस्यों की अपेक्षा गुण पर ध्यान अधिक रखना चाहिए।"[3]

नेतृत्व

आध्यात्मिक आन्दोलन के नेतृत्व का पद, अधिकार या सत्ता के अर्थ में कोई महत्त्व नहीं रखता। विशुद्धि की दृष्टि से यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि ऐसे आन्दोलन का नेतृत्व कौन करे?

अणुव्रत-आन्दोलन के समर्थक सभी लोगों ने चाहा कि अभी आन्दोलन का नेतृत्व आचार्यश्री ही करें। उनसे जो आलोक मिलेगा वह अन्य स्रोतों से सम्भव नहीं। आचार्यश्री ने इस अनुरोध को स्वीकार कर लिया। इससे कुछ उलझन भी बढ़ी। तेरापंथ और अणुव्रत-आन्दोलन दोनों का नेतृत्व एक व्यक्ति कर सकता है, इस पर सहसा विश्वास नहीं हुआ। इसीलिए आचार्यश्री ने पहले अधिवेशन के अवसर पर कहा—"वर्तमान में संघ का नेतृत्व मैंने सम्हाला है। इसका अर्थ यह नहीं कि संघ के सदस्यों को तेरापंथ की सदस्यता स्वीकार करनी होगी। किसी भी धर्म में विश्वास रखने वाला इस संघ का सदस्य हो सकता है।' इसका नेतृत्व मैंने इसलिए सम्हाला है कि इसकी प्रारम्भिक व्यवस्था सुदृढ़ हो जाए। उपयुक्त समय में इसके नेतृत्व की अन्य व्यवस्था भी की जा सकती है।"

एक व्यक्ति ने उन्हीं दिनों आचार्यश्री से पूछा—"क्या संघ में सम्मिलित होने

---

१. अणुव्रती संघ
२. अणुव्रती संघ
३. अणुव्रती संघ

पर मुझे आपको धर्माचार्य मानना होगा ?" आचार्यश्री ने कहा—"कोई आवश्यक नही। आपको केवल आन्दोलन के व्रतो का पालन करना होगा।"

इस उदार दृष्टि ने जनता को आकृष्ट किया और थोडे ही वर्षों मे आन्दोलन सबका हो गया। जैन, वैदिक, सिख, मुसलमान, ईसाई सभी लोग अणुव्रती बने।

अणुव्रत-आन्दोलन सब धर्मो की सामान्य भूमिका बन गया।

समन्वय और एकरूपता

आचार्यश्री चरित्र-विकास को तब तक पूर्ण नही मानते थे, जब तक विचारो मे समन्वय और जीवन-व्यवहार मे एकरूपता न आ जाए। धर्म का एक ऐसा समन्वित रूप अपेक्षित था, जो किसी सम्प्रदाय विशेष का न हो, सबका हो। धर्म का ऐसा मच कोई नही था, जिसे सब लोग अपना कह सकें और एक साथ रहकर उसकी आराधना कर सकें। अणुव्रत-आन्दोलन ने इस अभाव की पूर्ति की। इसे सब धर्म वाले अपना मानते है और यह मेरा ही है, ऐसा कोई नही मानता।

दूसरी बात—धर्म जीवन व्यापी नही रहा था। वह विभक्त हो गया था। लोग समझने लगे थे—धर्म करने का समय वही है, जब उपासना की जाती है। दुकान मे बैठकर या किसी व्यापार मे लगकर कोई धर्म थोडा ही पाल सकता है ? इस मिथ्या-चिन्तन से जीवन मे अनेक रूपता आगई थी। धर्म क्षेत्र और काल की सीमा मे बध गया था।

आन्दोलन ने जनता को यह दृष्टि दी कि जो व्यक्ति धर्मस्थान मे जाकर धर्म का विचार करता है, दुकान या कार्यालय मे नही करता, उसने धर्म का मर्म नही समझा। जो व्यक्ति उपासना-काल मे धर्म का विचार करता है, जीवन-व्यवहार मे नही करता, उसने धर्म का हृदय नही छुआ। सही अर्थ मे धार्मिक वही है, जो धर्मस्थान की भाति कर्म-स्थान मे भी और उपासना-काल की भाति जीवन-व्यवहार मे भी धर्म और अधर्म का विवेक करे।

शताब्दियो की धर्म-रूढता के कारण सस्कार रूढ हो गए थे। धर्म क्रिया-काण्डो मे बध गया था। उसके दृष्टिकोण मे परिवर्तन लाना आवश्यक था। आन्दोलन ने उस आवश्यकता की पूर्ति की। जनता को नई चेतना और नया दृष्टिकोण दिया।

आन्दोलन की सफलता व विफलता

आन्दोलन की सफलता का अकन उसके परिणाम पर निर्भर होता है। अणुव्रत-आन्दोलन विफल तो है ही नही। आचार्यश्री जो प्रयत्न करते हैं, उसे अपनी साधना मानकर करते हैं। उन्होने दूसरो के लिए ही कुछ किया होता तो सभव है, वह क्वचित् विफल भी हो जाता। सच यह है कि वह कही भी विफल नही हुआ है। भारतीय मानस पर उसने अपनी अमिट छाप छोडी है। नैतिकता के पुनरुज्जीवन मे उसने अपना सक्रिय योग दिया है। आध्यात्मिक सस्कार सूक्ष्म होते हैं। इसलिए उसकी क्रान्ति का परिणाम

शीघ्र ही दीख नहीं पाता। किन्तु जो बीज बोया गया है, उसका परिणाम अवश्य होता है।

भारतीय नैतिकता राष्ट्रीयता के आधार पर विकसित हो, यह इष्ट नहीं है। उसका एक पार्श्व सबल है तो दूसरा दुर्बल भी है। राष्ट्र के नाम पर थोड़ी भलाई होती है तो उसके नाम पर बुराई भी होती है। दूसरे राष्ट्रों के प्रति थोड़ी हीनत्व की भावना भी पनपती है।

नैतिकता अध्यात्म पर आधारित होनी चाहिए। वह किसी के लिए अहितकर नहीं होती। यद्यपि उसके निर्माण में समय कुछ अधिक लगता है। आज भी अनेक विचारक व्यक्ति इस आन्दोलन में अनेक संभावनाएं देख रहे हैं।

नये-नये उन्मेष

जैसे लाभ होता है—वैसे लोभ होता है। यह आर्थिक प्रवृत्ति है। प्रवृत्ति का क्रम भी यही है। सफलता होती है, उत्साह बढ़ता है। जैसे-जैसे सभी वर्गों के व्यक्ति आन्दोलन की ओर झुकते गए वैसे-वैसे उसमें नये-नये उन्मेष आते गए। विद्यार्थी, व्यापारी, राज्यकर्मचारी, शिक्षक, मजदूर आदि के लिए पृथक्-पृथक् व्रत निश्चित हुए। समय-समय पर विद्यार्थी सप्ताह, राज्यकर्मचारी सप्ताह, व्यापारी सप्ताह, मद्यनिषेध सप्ताह मनाए गए। दिल्ली तथा अन्य कई स्थानों में अणुव्रत-विद्यार्थी परिषद् की स्थापना हुई। आन्दोलन की विविध प्रवृत्तियों के परिचालन के लिए अणुव्रत समिति की स्थापना हुई। उसने 'अणुव्रत' पाक्षिक पत्र का प्रकाशन शुरू किया। अणुव्रत-विचार-परिषद् के आयोजन किये। आन्दोलन को व्यापक बनाने के प्रयत्न किये। किन्तु वे पर्याप्त थे, यह नहीं कहा जा सकता। आदर्श साहित्य संघ के प्रयत्न भी बहुमुखी थे। छगनलालजी शास्त्री प्रायः आचार्यश्री की यात्रा में साथ रहते थे। वे लोगों से सम्पर्क कर आन्दोलन की भूमिका तैयार करने में संलग्न रहते थे। साहित्य का वितरण भी करते। किन्तु जितना सम्पर्क हुआ, लोग आन्दोलन से जितने आकृष्ट हुए, आचार्यश्री के व्यक्तित्व ने जो जादू का सा असर किया, उसका लाभ नहीं उठाया गया। व्यक्तियों को संगठित नहीं किया गया। कार्यकर्ताओं को कार्य में नहीं लगाया गया। स्थिति यह बनी कि जहां-जहां आचार्यश्री गए, वहां-वहां एक बार सुर-सरिता की धार-सी बह गई। पर पीछे से उसे स्थायित्व देने वाला कोई नहीं रहा। परिणाम यह हुआ कि प्रयत्न अधिक हुआ, फल कम। जनता की यह शिकायत सदा रही कि आप आते हैं तब कार्यकर्ताओं, प्रचारकों की बाढ़-सी आ जाती है। आप दूसरी जगह चले जाते हैं, फिर कोई नहीं दीखता, इससे कार्य आगे नहीं बढ़ता। यदि आन्दोलन कुछ लगनशील और आचार-निष्ठ व्यक्तियों को तैयार कर पाता तो उसकी गति और अधिक त्वरित होती।

सहानुभूति

जहां कार्य-प्रवृत्ति की रेखा सम होती है वहां सहानुभूति स्वतः हो जाती है।

आन्दोलन ने सहानुभूति के लिए कभी हाथ नही पसारा, किन्तु उसे वह इतनी मिली, जितनी की आशा नही थी। उसे केवल धार्मिक व्यक्तियो की ही सहानुभूति नही मिली। उन व्यक्तियो की भी मिली, जिन्हे लोग धार्मिक नही कहते। डा० राजेन्द्रप्रसाद ने कहा—"पिछले कई वर्षो से अणुव्रत-आन्दोलन के साथ मेरा परिचय है। मैंने प्रारम्भ मे ही इसका स्वागत किया। अपने विचार बतलाये। आज तक जो काम हुआ है, वह प्रशसनीय है। इस आन्दोलन के नियमो के पालन से हम दूसरो की ही भलाई नही करते, अपनी भी भलाई करते हैं—अपने को भी शुद्ध करते हैं। सयम का जीवन सबसे अच्छा जीवन है। इसीलिए मैं चाहता हूँ कि सभी वर्गो मे इसका प्रचार हो, सबको इस ओर प्रोत्साहन दिया जाए।"

यह सहानुभूति यद्यपि एक महान् व्यक्ति की है फिर भी लोग विचित्र होते हैं और विचित्र होते हैं उनके दृष्टिकोण। राजेन्द्र बाबू धार्मिक व्यक्ति हैं इसलिए आन्दोलन के प्रति सहानुभूति रखे, यह आश्चर्य की बात नही। वे इस दिशा मे प० जवाहरलाल नेहरू की सहानुभूति को अधिक महत्त्व देते थे। उनकी दृष्टि मे नेहरू धार्मिक व्यक्ति नही हैं। किन्तु एक दिन जनता ने उन्हे भी धार्मिक बनते देखा। जब उन्होंने कहा—"हमे अपने देश को मकान बनाना है तो उसकी बुनियाद गहरी होनी चाहिए। बुनियाद यदि रेत की होगी तो पानी आते ही रेत बह जाएगी, मकान भी ढह जाएगा। गहरी बुनियाद चरित्र की होती है। देश में बडे-बडे काम करने हैं। उसके लिए मजबूत दिल, दिमाग और अपने को काबू मे रखने की शक्ति चाहिए। ये बातें हमे सीखनी हैं। इन सब की बुनियाद चरित्र है। कितना अच्छा काम अणुव्रत-आन्दोलन मे हो रहा है। मैंने विचारा—इस काम की जितनी तरक्की हो, उतना ही अच्छा है। मैं चाहता हूँ अणुव्रत-आन्दोलन का जो काम हो रहा है, वह पूरी तरह से सफल हो।"

राजनीति का युग है। प्रत्येक वस्तु को उसी के रग मे रगकर देखा जाता है।

डा० राजेन्द्रप्रसाद और नेहरू काग्रेस के स्तम्भ हैं। आन्दोलन काग्रेस के परिपार्श्व मे है। डा० राममनोहर लोहिया प्रभृति कुछ व्यक्तियो को यह अनुभव भी हुआ कि आचार्यश्री काग्रेस राज्य की नीव गहरी कर रहे है।

एन० सी० चटर्जी ने भी यही आक्षेप किया था कि "आपके द्वारा काग्रेस की दुर्बलता को पोषण मिल रहा है।" आचार्यश्री ने कहा—"मैं किसी भी राजनीतिक दल से सम्बन्धित नही हूँ और कोई दल ऐसा नही है, जिससे मैं सम्बन्धित नही हूँ। इसलिए मैं नही मानता कि मैं किसी की दुर्बलता को समर्थन दे रहा हूँ। मैं अणुव्रत-आन्दोलन को किसी एक राजनीतिक दल का बनाना नही चाहता। इसलिए मैं मानता हूँ कि सब दलो के लोग अणुव्रत-आन्दोलन मे रस लेते हैं। प्रथम चुनाव के अवसर पर आचार्यश्री के सान्निध्य मे चुनाव शुद्धि के लिए एक गोष्ठी का आयोजन हुआ। उसमे अनेक राजनीतिक दलो के लोग सम्मिलित हुए। काग्रेस अध्यक्ष ढेबर भाई, प्रजा-समाजवाद पार्टी के नेता आचार्य कृपलानी, साम्यवादी दल के नेता ए० के० गोपालन आदि आए। सभी ने आन्दोलन के व्रतो को क्रियान्वित करने का विश्वास दिलाया। गोपालन ने इतनी दृढता के साथ विश्वास दिलाया कि सब लोग आश्चर्यचकित रह

गए। अणुव्रत-आन्दोलन इसलिए बहुत सहयोग पा सका कि उसके कार्यकर्ता आर्थिक सहयोग के लिए सरकार की ओर कभी नहीं झुके।

उत्तरप्रदेश की विधान सभा मे जब विधायक सुगनचन्द्रजी द्वारा एक सकल्प, जिस पर २७ विधायकों के हस्ताक्षर थे, प्रस्तुत किया गया—"यह सदन निश्चय करता है कि उत्तरप्रदेशीय सरकार देश मे आचार्यश्री तुलसी द्वारा चलाए गये अणुव्रत-आन्दोलन मे यथोचित सहयोग तथा सहायता दे।" तब कुछ विधायकों को ऐसा सन्देह हुआ था।

विधायक श्री ललताप्रसाद सोनकर ने उसका निरसन करते हुए कहा—"यह प्रस्ताव सरकार से धन की माग नहीं करता और न किसी अन्य वस्तु की माग करता है। यह प्रस्ताव सरकार से यही चाहता है कि उसके शासन मे रहने वाले लोगों की नैतिक और आध्यात्मिक चरित्र सम्बन्धी बातो मे सुधार हो।"

विधायक श्री शिवनारायण ने कहा—"सरकार से सहयोग का मतलब यह है कि सरकार की सहानुभूति हो जाए। आज हर एक आदमी सहयोग का नारा लगा रहा है। सहयोग का मतलब यह है कि नीचे से लेकर ऊपर तक सभी इस काम में जुट जाए।

"आचार्यश्री तुलसी हमारे समाज को चिराग की तरह प्रेरणा दे रहे हैं। समाज को सदैव कोई न कोई प्रेरणा देने वाला चाहिए। महात्मा गांधी के बाद आज कोई ऐसा नहीं दिखाई देता, जो हमें इस प्रकार की शिक्षा देता हो।

मैं माननीय मत्रीजी से निवेदन करता हूँ कि प्रारम्भिक पुस्तको मे अहिंसा की छोटी-छोटी बातें होनी चाहिए। प्रस्ताव के द्वारा मैं यह माग करना चाहता हूँ। पैसे की कमी नहीं है मान्यवर! पैसा कौन मागता है?"

इस चर्चा से स्पष्ट है कि अणुव्रत-आन्दोलन के समर्थक आर्थिक सहयोग के लिए कभी भी राज्य सरकारों की ओर नहीं झुके। उन्होंने सहयोग चाहा। सद्भाव चाहा। और यही चाहा कि चरित्र-विकास का प्रश्न सर्व-साधारण का प्रश्न है, इसलिए इसमे सब सहयोग दें। स्वय अणुव्रतो को निभायें, दूसरो को अणुव्रत निभाने की प्रेरणा दें और ऐसा वातावरण उत्पन्न करें, जिससे चरित्र-विकास सहज हो जाए।

जन-साधारण की भाति राज्य सरकारो का भी यह कर्तव्य है कि वे नैतिक-विकास मे अपना योग दे। समय-समय पर उन्होंने इस कर्तव्य का निर्वाह किया है। बिहार, बगाल, यू० पी०, राजस्थान, उड़ीसा, मैसूर आदि अनेक राज्यो ने आन्दोलन के उन्नयन के लिए प्रयत्न किए और शिक्षा-संस्थानो को अणुव्रतो से परिचित होने के निर्देश दिए।

विधायक श्री सक्लूमल ने इसी आशय को स्पष्ट करते हुए कहा था—"इस प्रस्ताव के साथ पूरी सहानुभूति ही न रखते हुए बल्कि इस प्रस्ताव का पूरा समर्थन करते हुए प्रस्तावक महोदय को इसके लिए धन्यवाद और बधाई देता हूँ और यह प्रार्थना करना चाहता हूँ कि माननीय प्रस्तावक महोदय इसके लिए जोर न दें कि यह प्रस्ताव के रूप मे स्वीकार हो। बल्कि वह इसी हद तक सन्तोष कर लें कि चरित्र-निर्माण और

इस अणुव्रत-आन्दोलन के लिए लोग अपने-अपने भाव प्रकट करें और हम इस प्रकार के कानून बनायें जिससे कार्य रूप मे यह आन्दोलन सफल हो।

नया मोड़

अणुव्रत तब तक जीवन का स्पर्श नही करते जब तक उनकी भूमिका नही बन जाती। लोक जीवन रूढियो से इतना जकडा हुआ है कि उन्हे तोड फेंके बिना उसमे नये बीज पनप ही नही सकते। नया मोड का कार्यक्रम इसी चिन्तन का परिणाम है।

राजसमन्द[1] चातुर्मास मे आचार्यश्री ने जनता को एक सन्देश दिया—"जन्म, विवाह और मृत्यु के अवसर पर जो रूढियो का पालन होता है, उसे समाप्त किया जाए, दहेज न लिया जाए और पर्दा न रखा जाए। ये प्रारम्भिक समस्याए हल हो जाएगी तो आगे का मार्ग साफ हो जाएगा। मेवाड के हजारो व्यक्तियो ने उद्बोध पाया और सामाजिक जीवन मे एक नई लहर-सी दौड गई।

अपनी बहुमुखी प्रवृत्तियो के साथ आन्दोलन आज भी जनहित सपादन की दिशा मे यत्नशील है। आचार्यश्री की प्रेरकता, साधु-साध्वियो की सक्रियता और सहयोगी गृहस्थो की लगन से कार्य आगे बढ रहा है। यदि चरित्रवान् कार्यकर्ताओ को तैयार करने की दिशा प्रशस्त हुई तो भारत फिर एक बार विश्व को चरित्र-पाठ देने का अधिकार पा सकेगा।

मै अणुव्रती बन चुका था

आचार्यश्री बम्बई से विदा हो रहे थे। उस समय इण्डियन नेशनल चर्च के अध्यक्ष फादर जे० एम० विलियम्स ने कहा—"मैं कुछ दिन पूर्व नार्वे मे होने वाली शान्ति परिषद् मे भाग लेने जा रहा था। आचार्यश्री की प्रेरणा से मैंने अणुव्रत ग्रहण किए।

दिसम्बर की भयानक सर्दी मे मैं वहा पहुँचा। साथियो ने कहा—"मदिरा के बिना इस शीत प्रदेश मे ठिठुर जाओगे, पर मैं अणुव्रत ले चुका था। मैं मदिरा कैसे पीता? मेरा सकल्प अडिग रहा। मैं सकुशल लौट आया।

मैंने पश्चिम के लोगो से अणुव्रत-आन्दोलन के बारे मे चर्चा की। ब्रिटेन, नार्वे, स्वीडेन, फ्रास तथा रूस के लोगो को इससे परिचित कराया। उन्होंने इसमे बडी रुचि प्रदर्शित की।

मैं राष्ट्र के ईसाई भाइयो से यह अनुरोध करूगा कि हमारे राष्ट्र मे चलने वाले नैतिक आन्दोलन मे वे अपना सहयोग करें। यह किसी सम्प्रदाय विशेष का आन्दोलन नही है। यह तो आत्मशक्ति को जागृत करने का आन्दोलन है।"[2]

---

[1] वि० स० २०१७

[2] जैन भारती २० फरवरी, १९५५

आचार्यश्री ने सत्य को अभिव्यक्ति दी। दूसरो को सत्याभिव्यक्ति की प्रेरणा दी। स्वास्थ्य सघ की प्रधान सघटन कर्तृ कुमारी मेलिसेंट सेफेल ने आचार्यश्री को इन शब्दो मे श्रद्धाजलि समर्पित की थी—"एक चिराग से हजारो चिराग जलाये जा सकते हैं। आचार्यश्री के उपदेश के जगमगाते चिराग से अनेक पवित्र जीवन प्रकाश प्राप्त कर सकते हैं।"

: ४ :

महान् परिव्राजक

परिव्रजन और श्रेयोपलब्धि

जो प्राणवान् होता है, वह परिव्रजन करता है और जो परिव्रजन करता है वही प्राणवान् होता है।

कुछ शताब्दि के पूर्व गति के साधन मन्द थे। इसलिए विश्व बडा लगता था। अब वे त्वरित हो गए हैं, विश्व छोटा हो गया है। किन्तु आचार्यश्री उन व्यक्तियो मे से हैं, जिनके लिए दुनिया आज भी उतनी ही बडी है, जितनी पहले थी। वे परिव्रजन करते हैं, पर उनके पास उसका कोई साधन नही है। उनके अप्रतिहत चरण ही एकमात्र साधन हैं। जैन मुनि के लिए पाद-विहार एक व्रत है, जो मुनि-जीवन के साथ सहज स्वीकृत होता है।

पाद-विहार से बहुविध लाभ होते हैं। छोटे-बडे सभी गावो का स्पर्श होता है। छोटे-बडे सभी लोग मिलते हैं। छोटी-बडी सभी स्थितिया सामने आती हैं।

प्रत्यक्ष सम्पर्क से बहुत समाधान मिलता है। प्रत्यक्षदर्शी के अनुभवो की परोक्षदर्शी कल्पना ही नही कर सकता।

भगवान् महावीर, महात्मा बुद्ध और आचार्य शंकर, सभी ने परिव्रजन के द्वारा ही धर्म की लौ प्रज्वलित की थी। आचार्यश्री ने भी जो किया है उसका अधिकाश श्रेय उनके परिव्रजन को है।

आचार्यश्री कोई यात्री नही हैं। यात्री वह होता है, जिसका कही स्थायीवास हो। आचार्यश्री के पास चार अगुल भी भूमि नही है। उनके पुरुषार्थ मे ही उनका वास है और उनकी गतिशीलता मे ही उनकी सत्ता है।

उन्होने परिव्रजन करते-करते बहुत देखा है, सुना है, समझा है बहुत पाया है, बहुत दिया है। बहुत सहा है, बहुत कहा है। जो उनके पाद-विहार को नही जानता वह उनके जीवन-दर्शन का अधिकार नही पाता।

गांव और नगर

भारत दो भागो मे विभक्त है—गावो मे और नगरो मे। साधु-जीवन के लिए जो सुविधा गावो मे है, वह नगरो मे नही है। आचार्यश्री ने जोधपुर मे[1] चातुर्मास किया। वहा शौचार्थ बहुत दूर जाना पडता। सावन मे बरसात कम हुई।

---

१. वि० स० २०१०

प्रकृति का प्रकोप हम लोगों पर बरसने लगा। इस पर आचार्यश्री ने लिखा है—"यहां अभी तक पंचमी (शौच) की जगह जमी नहीं है। शहर का मामला है। जगह बहुत दूर पड़ती है। शाम को बहुत ही कठिनाई है। वर्षा की कमी के कारण लोग हमें कोस रहे हैं। कहीं-कहीं वचन-कुवचन भी सुनने पड़ते हैं। गांवों में जितना चित्त प्रसन्न रहता है, उतना शहरों में नहीं।"[1] गांवों में कठिनाइयां अधिक झेलनी पड़ती हैं तो सौहार्द भी अधिक मिलता है। आचार्यश्री जोखाबाद जा रहे थे। बीच में सिकन्दराबाद आया। वहां हाईस्कूल में आचार्यश्री प्रवचन कर रहे थे। इतने में संवाद मिला कि गांव के लोग ठहरने को स्थान नहीं दे रहे हैं। स्वीकृति क्यों नहीं दे रहे हैं, आचार्यश्री ने पूछा! आगन्तुक भाई ने बताया—वे घबड़ा गए हैं। पहले उनसे साधुओं के ठहरने के लिए स्थान मांगा था। साधुओं से पहले यात्रियों की बस पहुंच गई। उसे देख वे घबड़ा गए। अब वे कतई तैयार नहीं हैं। सिकन्दराबाद के नागरिक व अध्यापक प्रसन्न थे। अनायास ही उनकी भावना फल रही थी। आचार्यश्री के वहां ठहरने की संभावना हो रही थी। आचार्यश्री नहीं रुके। कुछ साधु आगे थे। वे गांव में पहुंचे। उन्हें देख गांववासियों की घबड़ाहट मिटी। उन्होंने समझ लिया कि यह बस डाकुओं की नहीं है। वे स्थान देने को तैयार हो गए। छोटा गांव, स्थान का अभाव, अर्ध संदिग्ध लोग। उस स्थिति में कठिनाई हो, यह सहज बात है। आचार्यश्री ने प्रातःकाल विहार किया। तब गांव के लोग उमड़ पड़े। अब उन्हें अपने संदेह पर अनुताप हो रहा था। आचार्यश्री के परिव्रजन में यह रहा कि गांव में पहुंचने से पहले लोग ठहराना नहीं चाहते। पहुंचने पर सकुचाते और वापस जाते तब रुकने का अनुरोध करते। दो सौ ढ़ाई सौ आदमी साथ हैं यह सुनते ही वे घबड़ा जाते। इतने व्यक्तियों की व्यवस्था का भार कौन उठाए? गांव-गांव का विहार, नये-नये लोग। नया-नया परिचय। फिर भी अतर्कित स्वागत होता।

आचार्यश्री गया पधारे। वहां दिगम्बर जैन अच्छी स्थिति में हैं। आचार्यश्री को गया और बोध गया में ले जाने का श्रेय उन्हीं को था। आचार्यश्री को जैन धर्म के महान् प्रभावक आचार्य की दृष्टि से देख रहे थे। आपके आगमन से जैन धर्म की प्रभावना होगी—यह उनका तर्क था। वे श्वेताम्बर-दिगम्बर भेद को गौण मानते थे। गया के नागरिकों ने बहुत रुचि के साथ आचार्यश्री को सुना। विहार के समय दिगम्बर जैन मन्दिर में गये। स्त्रियां स्वाध्याय में लीन थीं। आचार्यश्री इस पद्धति को बहुत पसन्द करते हैं। श्रावक गण वन्दना के लिए आएं, तब वह थोड़ा स्वाध्याय अवश्य करें—ऐसा वे चाहते हैं।

गया से औरंगाबाद जा रहे थे। मार्ग में आजू-बाजू दो गांव थे—सण्डाइल और कुसहा। दोनों गांवों के लोग दूध से भरे लोटे लिए खड़े थे। हम लोग थोड़े आगे थे। आचार्यश्री कुछ दूरी पर थे। लोगों ने वन्दना की और पूछा—बड़ा बाबा कहां है? हमने उत्तर दिया—पीछे आ रहे हैं। वे बोले—बाबा! आप जरा रुकिए और,

---

१. सं० २०१० श्रावण वदि १३

हमारा दूध लीजिए। बडे बाबा पीछे आ रहे हैं—यह कह हम लोग आगे चले गए। आचार्यश्री आए। उनकी प्रार्थना सुनी। कहा—"दूध नही लेंगे।"

"हम गरीब हैं इसीलिए तो ?" करुण स्वर मे सब बोल उठे। हमने सुना कि आप अपने लिए बनाया भोजन नहीं लेते। यह दूध हमारी गायो का है, आपके लिए हमने कुछ बनाया नही है, फिर क्यो नही लेते ?"

आचार्यश्री ने कहा—"आप हमारे लिए यहा ले आये, इसलिए कैसे लें ?" "हम आपको इन झोपडियो मे ले जाकर क्यो कष्ट दें ? यह सोच यहा लाये हैं, बाबा ! और कोई बात नही है। यह दूध वापस नही जाएगा, लेना होगा।" आचार्यश्री ने कहा—"आपकी श्रद्धा के अमृत के सामने दूध क्या चीज है। उसे मैं स्वीकार करता हूं। वे अपनी बात पर डटे रहे। आचार्यश्री के सामने भी मर्यादा का प्रश्न था। सामने लाई हुई भिक्षा नही ली जा सकती। दौलतरामजी छाजेड बोल उठे—"हम बाबा के भक्त हैं। बाबा नहीं लेते तो भक्तो को दे दीजिए।" बीच का मार्ग निकल आया, समस्या का समाधान हो गया। आचार्यश्री ने उनके श्रद्धा-भाव का उल्लेख करते हुए एक दोहा बनाया

सण्डाइल के जन खड़े, रोके जी० टी० रोड।
लोटे भर-भर दूध के, लाए भक्ति विभोर॥

वे अगले गाव मे पडाव डालने का परामर्श देते। सुगनचन्दजी आचलिया या और कोई जो व्यवस्था करता उन्हे सारी स्थिति समझाता, तब वे स्थान देने को राजी होते। आचार्यश्री का प्रवचन सुन, अणुव्रतो की जानकारी पा वे झूम उठते। साथ के लोग अपना पकाते, अपना खाते। गाव पर कोई भार नही पडता। पहले स्थान पाने मे कठिनाई होती और फिर उसे छोडने मे कठिनाई होती।

स्वावलम्बन और स्वनिर्भरता के प्रति आकर्षण होता है, इसके प्रत्यक्ष दर्शन होते।

आचार्यश्री का विहार बहुत बार समस्या बन जाता है। हर प्रदेश के लोग चाहते हैं कि आचार्यश्री हमारे यहा आए। जालना[1] मे आचार्यश्री को ऐसी समस्या का सामना करना पड़ा। आचार्यश्री ने लिखा है—"आगामी चातुर्मास के लिए सात जगह की प्रार्थना है—मालवा, खानदेश, मुगलाई, पूना, सी० पी०, बगलोर, मुलुण्ड, बम्बई। लोगो मे बडा उत्साह है। समस्या है किधर जाए ?"

आकीर्णता

आचार्यश्री का विश्वास है कि लोग सुनना चाहते हैं, यदि कोई सुनाने वाला हो। वे चलना चाहते हैं, यदि कोई मार्ग दिखाने वाला हो। आचार्यश्री के इस विश्वास मे से उनकी सफलता उपजी है या सफलता मे से उनका यह विश्वास उपजा है। यह

१ वि० स० २०१२
२ २०१२ वैशाख बदि १

नो एकान्त की भाषा में कहना कठिन है, किन्तु वे जहां गए हैं वहां लोगों ने उन्हें सुना है, श्रद्धा से सुना है? आचार्यश्री जहां जाते हैं वहां छोटे गांव भी कस्बे बन जाते हैं। आचार्यश्री ने जनता के लिए अपना सब कुछ अर्पण किया है तो जनता भी उनके सान्निध्य की प्यासी रहती है। आचार्यश्री के शब्दों में इस अर्पण का एक सजीव चित्र है—"आज हम बारह मील का विहार कर मागुन्गा पहुंचे। आसपास के खेड़ों से इतने लोग आए कि रात को सवा ग्यारह बजे तक हम सो नहीं पाए।[1]

आज 'निमंगुन' में कुछ प्रवचन किया। फिर 'टोवर खेड़े' होकर भापी नदी को पार किया। पानी बढ़ गया था, इसलिए नौका-पुल टूट गया था। हमें पानी में चलना पड़ा। १०० से अधिक पैर लगे। पानी घुटनों से नीचे था। नदी पार कर नाग्गु खेड़ा में गए। दिन-भर वहां ठहरे। शाम को विहार कर 'कलाम' में व्याख्यान किया। फिर 'गुकावल' जाकर रात्रि शयन किया। दूसरे दिन सवेरे 'कोठली' फिर 'बड़ावली', 'वोगला', और 'काहटूल', इन चार गावों का स्पर्श किया। वोगला में हर एक जाति के लोग तेरापंथी हैं। समूचा गांव ही तेरापंथ का अनुयायी है। काहटूल में भी सैकड़ों सोनार आदि तेरापंथी हैं। समय कम होने से रहना नहीं हुआ। प्रत्येक खेड़े में एक-एक दिन दिया जाता तो अच्छा उपकार होता। खेड़ों में रहने से सचमुच बड़ा आनन्द आया। धन्य हैं भिक्षुस्वामी, जिन्होंने दो सौ वर्ष पूर्व यह कहा था कि गावों में स्थायी उपकार हो सकता है। यहां आने वाले सन्तों ने भी बहुत परिश्रम किया है।"[2]

प्रकृति के अंचल में

प्रकृति का जितना सामीप्य पाद-विहारी को प्राप्त होता है, उतना दूसरे को नहीं। स्वस्थ चिन्तन के लिए मुक्त वातावरण अपेक्षित है। खुले आकाश में, खुले प्रकाश में और विजन वातावरण में जो भाव बनता है वह चार दीवारी में नहीं बनता। आचार्यश्री ने प्रकृति को बहुत निकटता से देखा है। उसे समझा है। मध्य भारत में प्रवेश होते ही घाटी का रास्ता आ गया। उसकी सहज सुषमा को आचार्यश्री ने इस भाषा में संकलित किया है—"आज का रास्ता झाड़ी-झंकाड़ का था। उतार-चढ़ाव भी काफी था। रास्ते में एक विचित्र वृक्ष देखा। उसके पत्ते गुच्छाकार हो रहे थे। पचासों गमले रखे हुए हों, ऐसा लगता था। वहां एक पुलिस चौकी थी। स्थान बड़ा रमणीय था। वृक्षों की छाया थी। मकान नहीं था। दृश्य इतना सुन्दर और मनमोहक था कि वहां से उठने की इच्छा नहीं हो रही थी। वहां ध्यान-चिन्तन किया और आहार भी किया। दिन-भर वृक्षों के नीचे रहे।[3]

आशुगति

आचार्यश्री प्रतिदिन १३-१४ मील चला करते हैं। कभी-कभी २०-२२ मील

१. सं० २०१२ आषाढ़ वदि २, टोंटावचा
२. सं० २०१२ पृ० ५-६
३. सं० २०१२ आषाढ़ वदि ११

तक भी। कलकत्ता से राजसमन्द पहुँचे। तब कई बार २०-२२ मील चले। कभी-कभी तिथि निर्णय हो जाने से अधिक लम्बा चलना पडता है और कभी-कभी श्रावको की बात रखने के लिए। खान देश मे आचार्यश्री ने लम्बे विहार किये। अपने वचन की तरह अपने कार्यकर्ताओ के वचन को भी आचार्यश्री ने निभाने का यत्न किया है। उन दिनो लम्बे विहार का कारण आचार्यश्री के शब्दो मे यही है—"मिश्रीमलजी ने कहा, हमने औरगाबाद मे आपका रामनवमी का कार्यक्रम घोपित कर दिया है। उस समय वहा पहुँचना आवश्यक हो गया है। इसलिए विहार लम्बे हुए। दो विहार १६-१६ मील के हुए। एक साथ ग्यारह-बारह मील चले।"[1]

दर्शक भी, दृश्य भी

आचार्यश्री अपनी सीमा मे दर्शक थे, दूसरो के लिए दृश्य थे। वे जहा जाते हैं, वहा हजारो व्यक्ति उन्हे देखने के लिए उमड पडते हैं। दिन-भर वे चाहते हुए भी विजन का अनुभव नही कर पाते। लम्बी प्रतीक्षा के बाद एक बार वे साप्ताहिक एकान्तवास कर पाये हैं। वह भी जनता को बहुत खला। आचार्यश्री अपने खाने-पीने और सोने तक का समय विशेप जिज्ञासु के लिए देने को तत्पर रहते हैं, तब लोग छोड़ें भी कैसे ? आचार्यश्री एलोरा जा रहे थे। बीच मे ही ११ अमरीकन मिल गए। दर्शक दृश्य बन गए। जैन-दर्शन के विपय मे वार्तालाप हुआ। उन्हे बहुत समाधान मिला।

बज्रासि-च्वासि

आचार्यश्री कहा हैं ? जगह-जगह पूछा जाता है। वे एक गाव मे रहते नही। स्थान भी एक जैसा नही मिलता। एलोरा मे नीम के वृक्ष के नीचे रात बिताई। पजाब मे नहर और नदी तथा सडक के बीच मे रहे—नीचे नहर थी, ऊपर नदी और उस पर सडक। जगल मे भी रहे। राजस्थान के रेगिस्तान मे एक-दो झोपडियो मे भी रहे। वहा जन्तुओ से बहुत सम्पर्क हुआ। आचार्यश्री ने उसे इन शब्दो मे चित्रित किया —

> बाड़मेर पथ मे बण्यो, बो रोही रो वास
> बा ढाणी, बो झूपड़ो, ओ रहसी इतिहास।
> कीडयां कांटां कांसलां और जवा रो जोर
> आंधी मेहां मे अटल तेरापंथ रो तोर।
> विद नवमी वैसाख री, मेह अन्धकारी रात
> "तुलसी" किण विध भूलसी, नो, तेरा री बात।

मेवाड के सघन पहाडो मे छितरी हुई आदिवासियो की झोपडियो मे भी रहे। वे गाव ही ऐसे हैं कि उनके दस-दस बीस-बीस घर मीलो की दूरी पर होते हैं। एक घर एक पहाडी की चोटी पर होता है तो दूसरा दूसरी पहाडी की चोटी पर। आचार्यश्री

[1] स० २०१२ चैत सुदी ५

ने इस प्रदेश का वह भाग भी देखा, जहा उनके पूर्वज आचार्य नही गए थे। सथाल के आदिवासियो के घरो का भी आचार्यश्री ने स्पर्श किया है। आचार्यश्री वहा भी गए हैं, जहा बहुत कम लोग जाते हैं, और वहा भी रहे हैं, जहा बहुत कम लोग रहे हैं।

कौन कहा जाता है, कौन कहा रहता है? इसका अपने आप मे कोई मूल्य नही है। मूल्य परिणाम से प्राप्त होता है। आचार्यश्री जहा गए, वहा परिणाम आया, इसलिए उनका जाना मूल्यवान बन गया। आचार्यश्री दमाराम की ढाणी राजस्थान मे पधारे। दमाराम वहा का मुखिया था। उसने आचार्यश्री से दूध लेने की प्रार्थना की। आचार्यश्री ने लिया। फिर कहा—"अब तुम क्या करोगे?" वह थोडे चिन्तन के बाद बोला—"चोरी नही करूगा। मैंने बहुत चोरिया की हैं पर अब सौ मन सोना भी हो तो वह मेरे लिए हराम है।" दूध का बदला चोरी के त्याग से चुका। आचार्यश्री के शब्दो मे —

दूध दान दे हाथ सू, दयाराम पग थाम,
गुरु अब चोरी नहीं करूं, हो मण हेम हराम।

आचार्यश्री अहिंसा की पुण्य भूमि हैं। इसलिए आपके पास हर कोई व्यक्ति सहज भाव से पहुँच जाता है। आचार्यश्री बडी रावलिया[1] मेवाड मे थे। वहा आस-पास के भील आये। पहले बातचीत की फिर चार पृष्ठो का एक पत्र आचार्यश्री को दिया। उसमे आप बीती कहानी थी। महाजन लोग उनके साथ जो बर्बर व्यवहार करते थे, उसका कच्चा चिट्ठा था। उसकी कुछ पंक्तिया इस प्रकार हैं —

श्री श्री १००८ श्री श्री श्री माराज धरमीराजजी श्री पुजनीक माराज थला री छातो वाला माराजजी पुजजी माराज से दुका। दुखियो की पुकार—

तरत फैसला, अदल नाव माराज पुजनीकजी . कर सकेगा। गरीब जाति रो हेलो जरूर सुनेगा। पचाव (हिसाव) तो लेगा। धरमराज रो भरोसो है। गमेती जनता री हाथ जोड के अरज है कि मारी गरीब जात बहुत दुखी है। (इन-इन लोगो ने) फरजी जुटा-जुटा खत माडकर गरीबा रे पास से जमीन ले लीदी है। और गाया, भैंस्या, बकरया बी ले लीदी हैं। वडा भारी जुल्म किदा है। जुदा-जुदा दावा करके कुरकी करावैं ने जोर जरबदस्ती करनै वसूली करै है। गरीबा ने पाच रुपया देने पाच सौ रो खत माडे हैं। सो मारा सब पसा—पचो री राय है के जल्दी सू जल्दी पद मगाकर देवाया जावै, जल्दी सू जल्दी फैसला दिया जावै।

-द० दलीग सब जन्ता (जनता) राकेवामुं।
स० २०१७ जेठ सुद ७।[2]

आचार्यश्री उनकी स्थिति को जान आश्चर्य चकित रह गए। उन व्यक्तियो को समझाने के लिए सन्तो को भेजा, जो ऐसा क्रूर व्यवहार करते थे।

---

१ ता० १-६-६०

२ जैन भारती ४ सितम्बर, १९६०

सत्यदेव विद्यालकार ने ठीक ही लिखा था—"दिल्ली मे यह अनुभव किया गया कि जनता के जीवन की सरल भाषा मे, जीवन के दैनिक व्यवहार की सरल सीधी और साफ बात कहने वाले महात्मा गाधी के बाद दूसरे महात्मा आचार्यश्री तुलसी दिल्ली पधारे हैं। आपकी तप पूत वाणी मे जो स्वाभाविक आकर्षण है, उससे सहज ही मे जनता मत्र-मुग्ध-सी हो गई है।[1] अपने लिए सब कुछ करते हुए भी आचार्यश्री ने जनता के लिए भी उतना किया है, जितना कि जनता के लिए ही सब कुछ करने वाले सम्भवत नही कर पाते।

आचार्यश्री के परिव्रजन से लोग एक दिशा मे ही उपकृत नही होते। वे जीवन के हर पहलू पर उनसे कुछ न कुछ आलोक पाते हैं। कलह और निराशा, ये दो ऐसे घुण हैं जो जीवन का सार खा जाते हैं। आचार्यश्री ने अनगिनत व्यक्तियो और परिवारो को इन दोनो से उबारा है।

बडी रावलिया[2] की घटना है। आचार्यश्री शोभालाल की ननिहाल मे गये। उस १४ वर्षीय बालक ने एक पत्र आचार्यश्री तुलसी के हाथ मे थमा दिया। आचार्यश्री ने पूछा—"यह क्या है?" वह बोला—"इसमे एक प्रार्थना है। मेरे (नाना) गेरीलालजी और गाव वालो के बीच जो विग्रह चल रहा है, उसे निपटाने की प्रार्थना है।"

आचार्यश्री ने पूछा—"तुम्हारी दृष्टि मे दोष किस का है?" वह बोला—"दोष तो मेरे नाना का ही है।" आचार्यश्री ने उसके नाना को समझाया। उसी रात २ बजे झगडा शान्त हो गया। जो दुर्बोध्य हो रहा था, वह आचार्यश्री की प्रेरणा पा सीधा, सरल हो गया।[3]

बीकानेर राज्य मे ओसवाल-समाज मे 'देशी-विलायती' का ऐसा दुर्भाग्यपूर्ण सामाजिक कलह पैदा हुआ, जिससे समाज को अकल्पनीय क्षति उठानी पडी। और क्या, उससे समाज की शृखला टूट गई, नीव हिल-सी गई। वर्षो बाद वह ठण्डा पड गया, फिर भी उसके बीज निर्मूल नही हुए। सामूहिक भोजन आदि के भेदभाव नही मिटे। आखिर वि० स० १९९९ चौमासे मे आपने इस कार्य को हाथ मे लिया। लोगो को समझाया। एकता और सगठन की आवश्यकता बताई।

आपने कहा—"और सब जाने दो, विश्वमैत्री के महान् प्रतिष्ठाता भ० महावीर के अनुयायी यो अमैत्री रखे, यह शोभा नही देता। भ० महावीर ने हमे अमैत्री को मिटाने का ऐसा सुन्दर मार्ग दिखाया है, जिससे किसी को मानसिक असुविधा भी नही होती, सूत्रो की भाषा मे वह है 'क्षमत क्षमापणा'। सीधे शब्दो मे अपना रोष शान्त करना और अपने प्रति रोष हो, उसे मिटाने की प्रार्थना करना। दोनो व्यक्ति समान भूमिका पर क्षमत और क्षमापन करें। वहा हल्की-भारी, ऊची-नीची रहो, इसका कोई प्रश्न ही नही उठता।

---

1 अणुव्रत ८-९
2 ता० २-६-६०
3 जैन भारती ९ अक्तूबर, १९६०

दोनों दलों के व्यक्ति आचार्यश्री से मार्ग-दर्शन पा कलह का अन्त करने के लिए तैयार हो गए। थोड़े दिनों के बाद आचार्यश्री के समक्ष दोनों ओर के व्यक्ति आ गये। आचार्यश्री ने उन्हें फिर मैत्री का महत्त्व समझाया। एक गीतिका रची। उसके द्वारा लोगों को मैत्री के संकल्प को दृढ़ बनाने की प्रेरणा दी। उसके कुछ पद्य ये हैं —

खमत-खमणा छव अक्षर में,
अर्थ अनोखो झाको।
परनो खमण नमण तिम निजनो,
भ्रमण मिटै उभया को॥
भूलो भूतकालनी भूलो,
आगामी अनुकूलो।
थारी म्हारी हल्की भारी,
मत को झगड़ै झूलो॥
कांदा छूंत उखेल्यां सेती,
मूल हाथ नहीं आवै।
होय सरल चित सद्गुरु आगल,
गुणिजन गुनह खमावै॥

आचार्यश्री की अन्तर आत्मा ने लोगों को इतना खींचा कि सब पिछली काली पंक्तियों को भूलकर एकमेक हो गये। चारों ओर 'खमत-खामणा' की ध्वनि गूंज उठी। समाज के सिर की वह अशुक्ल रेखा सदा के लिए मिट गई। वह आश्विन शुक्ला १३ का दिन था। वह कलह चूरु में ही उठा था और उसकी अन्त्येष्टि भी वहीं हुई, यह एक स्मरणीय बात है।

काणाना[1] (मारवाड़) के छात्रों ने अवसर देखा। आचार्यश्री पधार गए हैं और आपसी मनमुटाव समाप्त करने का सहज समय है। १२५ छात्र-छात्राओं का दल अनशन कर बैठा। उनके अनुरोध पर आचार्यश्री ने प्रवचन नहीं किया। और सबको सचेत कर दिया कि कोई किसी पर दबाव न डाले। आचार्यश्री गांव में आए और उनका प्रवचन न हो, यह सब को अखरा। आखिर हृदय बदला। गांव में जो धड़े थे मिट गये।

आचार्यश्री कोई न्यायाधीश नहीं हैं पर न्याय का भरोसा उनके पास है। उससे हर कोई खिंच जाता है। काणाना के मेघवाल हरिजनों ने एक पत्र आचार्यश्री के चरणों में उपहृत किया। उसका सार यह है

"हम मेघवंश सूत्रकार जाति जन्म से यहीं के निवासी हैं। यहां के महाजन हम पर लेन-देन को लेकर ज्यादती करते हैं। अतः उन्हें समझाया जाए। वे लोग बेईमानी कर हमें दुःख देते हैं। यदि यह भार हम पर कम हुआ तो हम ऊपर उठ सकेंगे।

साथ ही साथ वे इतनी छुआछूत रखते हैं कि हमें दुकान पर चढ़ने तक का

---

१. ३-८-१९६१

अधिकार नही। क्या हम मानव पुत्र नही हैं ?

आपके उद्देश्य बड़े हितकर व मानव कल्याण मूलक हैं। हम आपके उपदेशो पर चलेंगे और अणुव्रत-आन्दोलन के नियमो की कभी भी अवहेलना नही करेंगे।"

—हम हैं आपके विश्वासपात्र
मेघवश समाज (काणाना[1])

सबके बीच

आचार्यश्री की यात्रा ही व्यापक नही बनी। वे स्वय भी व्यापक बन गए। वे छोटे-छोटे गावो मे जाते हैं वहा भी अकल्पित भीड हो जाती है। मैंने बहुत बार निकट से देखा है—लोग उनके पीछे झूम उठते है। भोजन का समय होने पर भी जनता उन्हे बडी कठिनाई से छोडती है। आचार्यश्री बहुत बार कहते हैं—"अब तो हम जन साधारण के बन चुके हैं।" इस युक्ति मे उनकी भावना का प्रतिविम्ब है। आचार्यश्री नही चाहते थे कि धर्म और साधु किसी सीमा मे बधे रहे। वे उदार बने, जनता की दृष्टि उदार हो गई। अब सब जाति, वर्ग, धर्म और दल के लोग उन्हे अपना मानते हैं और उनकी दृष्टि मे कोई ऐसा नही है, जो अपना नही।

आचार्यश्री विहार के जन-पदो मे प्रवचन कर रहे थे। एक व्यक्ति ने पूछा—"आप हिन्दू हैं या मुसलमान ?" आचार्यश्री ने उत्तर दिया—"भाई! मैं हिन्दू भी नही हूं क्योकि मेरे सिर पर चोटी नही है। मैं मुसलमान भी नही हूँ क्योकि मैं इस्लाम की परम्परा मे नही जन्मा हूं।" "तो आप क्या है ?" वह पूछ बैठा। आचार्यश्री ने कहा—"मैं जन्मना मानव हूं। अपने आप को जीतने का यत्न करता हूं, इसलिए जैन हूं।"

पूना की एक परिषद् मे एक संस्कृत विद्वान् ने पूछा—"जैन हिन्दू हैं या नहीं" आचार्यश्री ने कहा—"हिन्दू का अर्थ भारतीय हो तो जैन हिन्दू हैं और उसका अर्थ यदि वैदिक धर्म का अनुयायी हो तो जैन हिन्दू नही हैं।"

आचार्यश्री की दृष्टि मे जैन, बौद्ध, वैदिक, ईसाई, मुसलमान बनने से पहले मनुष्य को मनुष्य बन जाना चाहिए। वह ऐसा करके ही और-और बन सकता है।

अविराम

आचार्यश्री मे गति और विराम का अद्भुत सामजस्य है। उनकी गति मे विराम है और उनके विराम मे गति है। वे एक दिन मे दस-बीस मील चल लेते हैं। चार-पाच बार प्रवचन कर देते हैं। कई घटो तक लोगो से बातचीत कर लेते हैं। अध्ययन, अध्यापन आदि प्रवृत्तिया अलग हैं। बहुत बार अविराम श्रम करते हैं। लोक-जागरण मे उन्हे सहज आनन्द मिलता है—अन्यथा वे अपना स्वास्थ्य सुरक्षित नही रख पाते। उनके अथक परिश्रम को देख कई बार हम लोग प्रार्थना करते हैं—

---

१ जैन भारती २३ अप्रैल, १९६१

"अतिश्रम होता है, थोड़ा विश्राम किया जाए।"

आचार्यश्री स्मित के साथ एक ही उत्तर देते हैं—"खाली रहना मुझे बहुत अटपटा लगता है। मेरी समझ में कार्य परिवर्तन ही विश्राम है।" उनके इस संकल्प ने ही उन्हें बहुविध प्रवृत्तियों में संलग्न कर रखा है। उनकी अपनी भाषा ही उनके आनन्द का सहज स्रोत है।

तीर्थ यात्रा

आचार्यश्री की मान्यता में सबसे बड़ा तीर्थ मनुष्य है। सब तीर्थों का निर्माण उसकी आन्तरिक शक्ति से होता है। आचार्यश्री ने मनुष्य की आन्तरिकता को विकसित करने के लिए यात्रा की, इसलिए उनकी यात्रा स्वयं तीर्थयात्रा है। वे तीर्थ-स्थलों में भी गये थे इस दृष्टि से भी उनकी यात्रा तीर्थ-यात्रा है। उन्होंने पं० नेहरू के नये तीर्थ—माईथान, मयूराक्षी बांध, झूमरी तलैया बांध, आदि देखे हैं। पुराने तीर्थ भी देखे हैं। आचार्यश्री देवघर, प्रयाग आदि वैदिक तीर्थस्थलों में गये। सारनाथ, बौद्ध गया और नालन्दा आदि बौद्ध तीर्थों का भी उन्होंने स्पर्श किया। राजगृह, सम्मेद-शिखर, आबू, राणकपुर, आदि जैन तीर्थों में भी उन्होंने कई दिन बिताये।

आचार्यश्री ने नित नये तीर्थों की भी यात्रा की। हिन्दू विश्वविद्यालय (बनारस), शांतिनिकेतन, संस्कृत विश्वविद्यालय बड़ौदा, राजकीय पुस्तकालय, भाण्डारकर शोध-संस्थान (पूना) आदि शिक्षा संस्थानों की भी यात्रा की।

आचार्यश्री का जीवन अनेकान्त का ज्वलन्त प्रमाण है। वे सब जगह जाते हैं। सबसे मिलते हैं। सबको देते हैं, सबसे लेते हैं। सर्वथा भेद या सर्वथा अभेद जैसा एकान्तवाद उन्हें सर्वथा अमान्य है।

संकल्प बल

जहां गति है वहां बाधा भी है। जहां बाधा नहीं है वहां गति में वेग भी नहीं है। बाधा वैयक्तिक भी होती है और सामुदायिक भी। संकल्प बल से व्यक्ति दोनों की थाह ले लेता है। आचार्यश्री बम्बई यात्रा करने जा रहे थे। सर्दी में स्वास्थ्य दुर्बल हो गया। सोजत के वैद्य मिश्रीलाल जी से औषध लिया। स्वस्थ हो गए। इस बीच में जो कल्पना परिवर्तन हुआ उसे आचार्यश्री ने इन शब्दों में अंकित किया है—"बीच में स्वास्थ्य की कमी को लेकर यात्रा के सम्बन्ध में कल्पना कुछ और हो गई थीं। अब वापस मूल यात्रा का ख्याल होने लगा है। इस विषय की चर्चाएं भी जगह-जगह पर चल रही हैं।

कुछ लोगों का ख्याल है कि गुजरात की यात्रा में प्रथम स्थान बम्बई को मिलना चाहिए। पर सबसे बड़ा विचारणीय विषय है, इतनी लम्बी यात्रा ६०० मील चलना, वह भी तीन महीनों में। बीच-बीच में कई गांवों व शहरों में रुकना भी आवश्यक है और स्वास्थ्य का ध्यान भी रखना है। इन सबके बावजूद भी मेरी

अन्तरात्मा कह रही है कि मुझे इस वर्ष बम्बई पहुँचना चाहिए। मेरी इस तीव्र भावना के साथ मेरा आत्मबल है, शासनबल है और लोक-हित भावना का प्रबल बल है। निश्चित ही हम इस बार बम्बई पहुँचेंगे। कालू गुरु की कृपा मेरे साथ है।"[१]

आचार्यश्री एक सुसगठित समाज के प्रमुख है। उसका उत्तरदायित्व भी है। अधिकाश साधु-साध्विया—राजस्थान, पजाब, मध्यभारत मे विहार करते हैं। उनसे सुदूरवर्तीय क्षेत्रो मे जाना आचार्यश्री के लिए सहज नही होता।

आचार्यश्री उन दिनो बम्बई मे थे। एक गृहस्थ ने मारवाड से आया हुआ एक पत्र पढने को दिया। आचार्यश्री ने उसके सम्बन्ध मे लिखा है—"उसमे वहा के सन्तो को लेकर विचित्र से समाचार हैं। वहा के कुछ लोगो मे विकृति भर गई, ऐसा मालूम हुआ। गुट्टबन्दी की बात-सुनी। विषय विचारणीय व गहन लगा, पर होना क्या है? गुरुदेव शरणमस्तु।

'आज एक पत्र फिर आया है। उसी विषय का। इधर-उधर की काफी बातें हैं। पर अभी तक विश्वस्त समाचार प्राप्त नही हुआ। कुछ चिन्ता-सी है। कारण हम बहुत दूर हैं। मारवाड यहा से ७०० मील होगा। शुभकरण ने पहले ही बहुत कहा था। पर मुझे ऐसा लगता था कि मैं किसी दूसरे की अन्तरग प्रेरणा से बम्बई पहुँचा हूँ। चिन्ता मुझे क्यो हो? वह अन्तरग प्रेरक स्वय चिंता करेगा। फिर भी पुरुषार्थ-वादी होने के नाते उपचार करना होता है। सम्भव है हमारे प्रवास का अनुचित लाभ उठाने की कुछ व्यक्ति सोच रहे हो। अन्तरात्मा यही साक्ष्य देता है कि होना जाना कुछ भी नही है। गुरुवर शरणमस्तु। दिल इतना बलवान नही है कि छुटपुट घटना का असर न हो। आखिर गुरु कृपात सर्व सफलम्।"[२]

आन्तरिक स्थितिया अनुकूल होती तो आचार्यश्री दक्षिण मे पधार जाते। किन्तु वैसा नही था। उन्ही दिनो स्थानाग सूत्र का वाचन चल रहा था। एक दिन एक पाठ आया—गण मे विग्रह होने के पाच कारण हैं। उनमे एक कारण यह है—'आचार्य गण की सम्मति लिए बिना दूर देशान्तर मे चले जाए तो गण मे विग्रह हो सकता है।' आचार्यश्री ने इसे आधार मान कर दक्षिण जाने की कल्पना बदल दी।

बेंगलोर के भाई-बहिनो की प्रार्थना आचार्यश्री को खीच रही थी। पर आचार्यश्री स्वय ही भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक यात्रा करना चाहते हैं। इसी प्रसग मे लिखा है—"काश! मेरी जैसी इच्छा है देशाटन की, वैसा हो पाता। मेरी बडी तडप है दक्षिण भारत मे जाने की, पर सघ सभाल का उत्तरदायित्व जो है उसका ख्याल रह-रहकर मुझे रोकता है। इधर देशाटन व शासन का उपकार है, उधर शासन सभाल—बडी समस्या है। समाधान स्वत ही कोई सुन्दर होगा। हमारे गुरुदेव हर वक्त ध्यान रखते ही है। मैं तो उसी भरोसे निश्चिन्त रहूँ ऐसा हृदय कहता है।"[३]

---

१ स० २०१० फाल्गुन वदि ८ जोजावर

२ स० २०१० आसोज सुदी १, बम्बई

३ स० २०११ फाल्गुन शुक्ला ३ पूना

महत्त्वपूर्ण संकल्प

स्वस्थ मस्तिष्क कल्पना देता है। वह सकल्प के बिना फल नही लाती। स्वस्थ मन मे सकल्प होता है। जहा मस्तिष्क और मन दोनों स्वस्थ होते हैं, जहा कल्पना और सकल्प का सगम होता है, वहा सफलता चरण स्वय चूमती है।

आचार्यश्री औरगाबाद मे थे।[1] महावीर जयन्ती का अवसर था। मचर मे आचार्यश्री के मन मे एक कल्पना उठी थी। यहा वह सकल्प के रूप मे परिणत हो गई।। आचार्यश्री ने घोषणा की—आगामी २०१७ मे हमारे तेरापथ शासन की द्विशताब्दी आ रही है। उसका विराट महोत्सव मनाना है। उसके उपलक्ष मे एक तो जैनागमो का हिन्दी मे अनुवाद करना है। वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण और अत्यावश्यक कार्य है। दूसरा तेरापथ का इतिहास (लगभग एक हजार पृष्ठ का) तैयार करना है।

विविधा

परिव्रजन अनुभूतियो का महान् सग्रहालय है। आचार्यश्री ने परिव्रजन मे विविधताए देखी हैं और उन्हे विविध रूपो मे गूथा है। पीपल गाव के प्रवास का उल्लेख इन दो शब्दो मे किया है—"यहा जगह की बहुत तगी थी। दिन भर एक टपरी मे रहे। ऊपर से वधारे ही वधारे। प्रागण अति उच्चावच। लकडे वाहर निकले हुए। पग-पग पर लगने का भय। चारो ओर धूप। प्रकृति की गोद मे रहे, फिर भी आनन्द का अनुभव हुआ। लगा कि आनन्द और विषाद बाह्य वस्तु मे नहीं है। ये तो अपने मन से सम्बन्वित हैं।"[2]

मन सम होता है तो विषम भी सम हो जाता है और मन विषम होता है तो सम भी विषम हो जाता है। आचार्यश्री ने केवल परिव्रजन ही नही किया है, साम्ययोग का अनुशीलन भी किया है। उन्होंने जो देखा, उसे विशेष दृष्टि से देखा और जो अर्थ लिया, उसे जीवन के लिए उपयोगी बनाकर लिया। आचार्यश्री जब अजन्ता गये थे तब की बात है—"अजन्ता गाव को छोड कर दृश्य-बिन्दु (व्यू पाइट) होकर जाने से सात मील का चक्कर बचता है। रास्ता विषम जरूर है, फिर भी हमने वही मार्ग लिया। दृश्य-बिन्दु पर खडे रहे। नीचे का समूचा दृश्य देखा। वडा रमणीय था। रात को वही वृक्ष के नीचे सोये। सवेरे दृश्य-बिन्दु पर सामूहिक प्रार्थना की। फिर गुफाओ की ओर चले। मार्ग विषम था। फिर भी सघ सहित चलने मे वडा आनन्द आया।"[3]

आचार्यश्री का मानस कवित्व से परिपूर्ण है। समय-समय पर इस मे से कवित्व की धारा प्रवहमान हो जाती है। गुफाओ का निरीक्षण करने के बाद आचार्यश्री ने

---

१ स० २०१२ महावीर जयन्ती, औरगाबाद

२, स० २०११ वैसाख बदि १३, खानदेश

३ स० २०११ वैसाख सुदी ७ बालापुर

अनुभव किया—"कला, रग और भावप्रर्शन की शैली विचित्र है। वातावरण बडा शात है। स्थान वास्तव मे ही सतो का साधन-स्थल व तपोभूमि जैसा है। हमने सामूहिक ध्यान, स्वाध्याय किया, प्रवचन भी किया।"

एक दोहे मे लिखा

अक्षय तीज सुपर्व दिन, अजव अजन्ता स्थान,
तुलसी गणपति सघ सह खिली अलौकिक शान।

अनुभूती तीव्र हुए विना कवित्व स्फुटित नही। तीव्रता के निमित्त इस दुनिया मे कम नही हैं। आचार्यश्री रास्ते से चलते। बीच मे ईख के खेत आये। एक भाई ने आग्रह किया। आचार्यश्री ने रस लिया और थोडा गुड भी। आहार किया हुआ था और अपरान्ह की वेला थी। इसलिए उसे पीने मे कठिनाई का अनुभव हुआ। कुछ विलम्भ हो गया। सूर्यास्त होने पर साई वावा के धाम सिरडी पहुँचे। रात को मच्छरो ने पूरी खवर ली। पजाव के मलेर कोटला की स्मृति उभर आई। नीद फिर किस लिए आती।

आचार्यश्री ने तव कहा

सिरडी आए शाम को, घमचक साई धाम,
साझ सलाई सेलडी, राते मच्छर राम।

आचार्यश्री वम्बई राज्य की सीमा पार कर मध्यभारत आ रहे थे। विन्ध्य की चोटी पर चढे कि आकाश वादलो से घिर गया। पहाड, पेड, आकाश और भूमि सव श्यामल हो गये। मानपुर की घाटी आई और वरसात भी आ गई। उसने जी भर स्वागत किया। आचार्यश्री ने तव कहा

गुजरो से गहरो खिलो, विन्ध्याचल की वाट।
सोन सिनेरी सातरो, घन की ओघट घाट॥
चढ विन्ध्य की चोटिया, चले मेघ के वाण।
रखो सुरक्षित पुस्तिका, प्लास्टिक के इक पाण॥

आचार्यश्री मन्दसोर से चले। वीच मे राम वड आया। वहा विश्राम किया। वड वहुत विशाल है। कहा जाता है भगवान् राम ने यहा विश्राम किया था। आचार्यश्री ने उसे स्मृति से वचित नही रखा। जो घटा उसे पद्यो मे वाध दिया

मदसोर से रामवड़ तल लीधो विश्राम।
तुलसी गणपति पोष सुद तीज दूसरी याम॥
ईखू रस अमृत जिसो लाए सम्पक भात।
पीऊर चाल्या पीपल्या तेरह मुनिवर साथ॥
"चप गुलाव मनोहरू सुख सह रूप समीर।
फत वसंत हर केशरी, हीरू हस हमीर॥

आचार्यश्री ने विविध घटनाओ को काव्य मे सजोकर उन्हे अमरत्व प्रदान किया है।

अतीत की स्मृतियां

आचार्यश्री मध्यभारत से राजस्थान आये। और वहां आये जहां आचार्यपद का दायित्व संभाला था। आचार्यश्री बम्बई यात्रा कर दो वर्षों से आ रहे थे। लोगों में असीम उल्लास था। अपनी ऐतिहासिक स्थली का वर्णन आचार्यश्री ने बड़े सजीव शब्दों में किया है—"आस-पास के लोगों की इतनी भीड़ थी कि समूचा गंगापुर जन-मय बन गया। जैनेत्तर भी जैन लोगों से कम नहीं थे? यह परम हर्ष का विषय है कि आज तेरापंथ सार्वभौम धर्म होता जा रहा है। जातिवाद की संकीर्णता को तोड़कर निस्संकोच आगे बढ़ रहा है। जिस मैदान में प्रवचन रखा, वहां जनता समाई नहीं। समाये भी कैसे, लोग कल्पना से बहुत अधिक थे। ३५० से अधिक साधु-साध्वियां थीं। तिरानवे के भाद्रव में पूज्य कालूगणी का उत्तराधिकार पाया, उसके बाद फिर अभी आना हुआ है। उस समय की वे स्मृतियां एक-एक कर उभरने लगीं। कालूगणी वहां बैठते, सोते थे। हम यहां रहते थे। युवाचार्यपद कहां और किस रूप में मिला, क्या-क्या विशेष शिक्षाएं पाईं, कहां पूज्य कालूगणी का स्वर्गवास हुआ आदि-आदि घटनाएं सजीव होकर आंखों के सामने नाचने लगीं।"[1]

विचार संगम

जलाशय चार प्रकार के होते हैं :—

(१) कुछ जलाशयों में—जल आता भी है और बाहर जाता भी है।
(२) कुछ जलाशयों में से—जल बाहर जाता है, आता नहीं।
(३) कुछ जलाशयों में—जल आता है, जाता नहीं।
(४) कुछ जलाशयों में—जल न आता है और न जाता है।

आचार्यश्री प्रथम श्रेणी के जलाशय के समान है। वे श्रुत लेते भी हैं और देते भी हैं।

"मैं देने ही नहीं आया हूं, लेने भी आया हूं" आचार्यश्री की यह वाणी परिषद् का हृदय जीत लेती है। विनिमय में उनकी निश्चित आस्था है। जो दे ही दे वह खाली हो जाता है। जो ले ही ले, अजीर्ण-ग्रस्त हो जाता है। निरापद मार्ग यह है कि अपना दे और दूसरों का ले। इस विनिमय की भावना से उन्होंने बहुत पाया है और बहुत दिया है।

वे अपनी विशाल यात्रा में हजारों-हजारों व्यक्तियों से मिले हैं। उन्होंने विभिन्न परिस्थितियों को देखा है और नानाविधि अनुभव संजोए हैं। प्राचीन भाषा में इसलिए देशाटन को चातुर्य का मूल कहा गया है।

आचार्य कृपलानी के साथ

उन दिनों[2] आचार्य कृपलानी कांग्रेस के अध्यक्ष थे। वे फतेहपुर (राजस्थान)

---

१. सं. २०१२ माघ वदि, १ गंगापुर
२. सं. २००४

आये थे। आचार्यश्री उन दिनो रतनगढ मे थे। कुछ लोगो ने चाहा वे आचार्यश्री से मिलें। उन्हे लाया गया। वे आकर बैठ गये। उनकी प्रकृति से आचार्यश्री परिचित नही थे और आचार्यश्री की प्रकृति को वे नही जानते थे। वार्ता का क्रम प्रारम्भ हुआ तो उन्होने कहा—"मैं सुनने नही आया हूँ, सुनाने आया हूँ।" आचार्यश्री ने कहा—"जो सुनाने आते है, वे सुनते भी है।" आचार्यश्री ने तेरापथ का दृष्टिकोण बताया तो वे बोले—"मैं गांधीजी को गुरु मानकर चलता हूँ। पिता और गुरु दो नही होते, फिर आप मुझे क्यो समझाने का यत्न करते है।" इस रूखे वातावरण मे बातचीत समाप्त हुई। इससे पहले जैनेन्द्रजी भी ऐसी ही अरुचि का परिचय दे चुके थे। उनकी भाषा मे वह इस प्रकार है—"आचार्यश्री तुलसी जैन श्वेताम्बर तेरापथी परम्परा के नवम पट्टधर आचार्य हैं। पहली भेंट मे मैं व्यक्ति को नही पा सका, गुरु के ही दर्शन हुए। समय कम था और वह भेंट कुछ तेरापथी भाईयो के आग्रह की पूर्ति के निमित्त से हुई थी। मैं बाहरी आदमी था और जिस पूजा और महिमा का वलय मैंने उनके चारो ओर पाया, वह मुझे अनपेक्षित हुआ। इससे लौटा तो कुछ विशेष भाव मेरे साथ नही गया बल्कि कुछ अन्तर रह गया और अरुचि-सी हुई। मेरा मानना है कि आचार्यश्री तुलसी के व्यक्तित्व को पाने मे यह साम्प्रदायिक वातावरण अन्तराय बना रहता है। इससे जो उन्हें प्राप्य है, मिल नही पाता और हमे देय है; हम दे नही पाते।"[1]

इन घटनाओ ने चिन्तन का अवसर दिया। आचार्यश्री ने कहा—"ऐसा क्यो होता है? यह भेद की खाई क्यों नही पटती? इस अहिंसा की शक्ति को विकसित करने के लिए विचार-सगम चाहते है। दूसरा कोई हीन उद्देश्य नही हैं। फिर ऐसा क्यो होता है? अच्छे-अच्छे विचारक इस प्रकार की अरुचि क्यो दिखलाते हैं?" सतत चिन्तन के बाद यही मिला कि आज के बुद्धिवादी लोग साधु नाम से चिढते हैं। सम्प्रदाय से अरुचि है। उनकी दृष्टि मे साधु शब्द अन्धविश्वास और अज्ञान का ही दूसरा पर्याय है। हम भी एक सम्प्रदाय के साधु हैं। हमारी अलग वेषभूषा है। इसलिए वे दूर से ही घबडा जाते हैं। हमे निकट से जानने का यत्न ही नही करते। एक बात यह है कि दूसरे लोग हमे श्रावको के माध्यम से जानते हैं। उनके माध्यम से आते हैं और सभव है उन्ही की तुला से हमे तोलते है। इस स्थिति को बदलने के लिए हमे श्रम उठाना होगा और बहुत सहना होगा।

आचार्यश्री ने पहले पहल उन श्रावको को समझाया, जो जन-सम्पर्क मे रुचि रखते थे। उन्हे बताया—"यहा किसी व्यक्ति को लाने के लिए कोई आग्रह न किया जाए। तुम्हारा काम स्थिति से परिचित कराना है फिर वे आए या न आए यह उन्ही की जिज्ञासा पर निर्भर होना चाहिए।

दूसरे चरण मे आचार्यश्री ने सुझाया—"राजस्थान के सस्कारो मे पले हुए व्यक्ति आचार्यश्री के लिए अन्नदाता, अन्तरयामी, खमाघणी, हजूर साहेब आदि शब्दो

---

१ आचार्यश्री तुलसी—भूमिका

का प्रयोग करते हैं, वे जैन-परम्परा के अनुरूप नही हैं।" क्षमाश्रमण, गुरुदेव, आचार्यश्री ये शब्द हमारी भावना के अनुरूप है, इसलिए इन्ही का प्रयोग किया जाए। श्रद्धा का अतिरेक न दिखाया जाए। वह कही-कही दूसरो के लिए आवरण वन जाता है। यह उन्ही दिनो की बात है, जिन दिनो अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्त्तन न हुआ था। आचार्यश्री अपनी प्रत्येक गतिविधि को आलोचक की दृष्टि से देखने लगे। इसी दृष्टिकोण ने उन्हे परिवर्तन के लिए प्रेरित किया। उनका चिन्तन सहज ही स्फुरित नही हुआ। वे एक महान् लक्ष्य से प्रेरित हुए और वही से उनके चिन्तन मे नये-नये उन्मेष आये। महात्मा गाधी अपनी प्रवृत्तियो के पीछे ईश्वरीय प्रेरणा मानते थे और आचार्यश्री कोई अज्ञात प्रेरणा मानते हैं। यह ईश्वरीय या अज्ञात प्रेरणा और कुछ नही, उनके अन्त-करण की गहरी आस्था और महान् लक्ष्य का निश्चय ही है।

आचार्यश्री के चिन्तन और उसकी क्रियान्विती से खाई पट गई। जो दूर थे, वे बहुत निकट के हो गये। साधुओ के प्रति जो धारणा थी, उनमे परिवर्तन हुआ, वेष-भूषा का प्रश्न भी अब विकट नही रहा।

दिल्ली मे अणुव्रत सेमिनार हुआ। उसमे आचार्य कृपलानी भी एक वक्ता थे। उनका प्रथम भाषण सचमुच लुभाने वाला था। वे साफ के समय फिर मिले। सुचेता कृपलानी भी साथ थी। वार्तालाप के बीच आचार्यश्री ने रतनगढ के प्रसग की याद दिलाई तो वे हँस पड़े, अब एक दूसरे को निकट से समझने मे कोई कठिनाई नही थी। दूसरी वार जैनेन्द्र जी भी वे नही थे, जो पहली बार मिले थे। हो सकता है, उन्होने आचार्यश्री को उस रूप मे नही देखा, जिस रूप में पहले देखा था। अब उन्होने आचार्यश्री को इस दृष्टि से देखा—"तुलसीजी को देखकर लगा कि यहा कुछ हैं, जीवन मूर्च्छित और परास्त नही है। उसकी आस्था और सामर्थ्य है। व्यक्तित्व मे सजीवता और एक विशेष प्रकार की एकाग्रता, यद्यपि हठवादिता नही। वातावरण के प्रति उनमे ग्रहणशीलता है और दूसरे व्यक्तियो और सम्प्रदायो के प्रति सवेदनशीलता। एक अपराजय वृत्ति उनमे पाई जो परिस्थिति की ओर से अपने मे शैथिल्य लेने को तैयार नही है। बल्कि अपनी आस्था, सकल्प बल पर उन्हें वदल डालने को तत्पर है। धर्म के परिग्रह-हीन आकिचन्य के साथ इस सपराक्रम सिंह-वृत्ति का योग अधिक नही मिलता।"[१]

आचार्यश्री के सामने एक लक्ष्य है, उसकी पूर्ति के लिए तड़प है, आस्था है और सकल्प है। इसलिए वे बाधाओ से परास्त नही होते और बाहरी उपकरणो से आवृत नही रहते। आचार्यश्री पहली वार दिल्ली गये। तब अनेक विचारको ने कहा—"यह मुँह पट्टी आपके और हमारे बीच मे दीवार है। किन्तु जैसे-जैसे आत्मीयता बढी, विचारको का तादात्म्य हुआ वह दीवार नही रही। कौन कैसे क्या पहनता है ? यह विचारको की दूरी या अनुदारता मे ही खलता है। जैसे-जैसे विचार निकट होते हैं, उदारता बढती है, वैसे-वैसे आन्तरिकता बाह्य को पचा लेती है। प्रारम्भिक कठिनाईयो के बाद विचार सगम का मार्ग प्रशस्त हो गया। वैसे आचार्यश्री से विचार विनिमय करने

१ आचार्यश्री तुलसी, भूमिका

वालो की सख्या हजारो मे है। यहा मैं केवल कुछेक विशेष प्रसगो का उल्लेख करूगा, जो लक्ष्य पूर्ति मे सहयोगी बने हैं। आचार्यश्री गाधीजी से मिलकर विचार विनिमय करना चाहते थे। किन्तु वह नही बना। जब महात्मा गाधी थे तब आचार्यश्री अपनी तैयारी मे लगे हुए थे और जब आचार्यश्री की तैयारी पूर्ण हो रही थी, तब महात्मा-गाधी इस ससार मे नहीं रहे। यदि यह मिलन होता तो निस्सदेह कोई परिणाम निकलता। (आचार्यश्री के 'अशात विश्व को शान्ति का सन्देश' की एक प्रति महात्मा गाधी जी के पास पहुँची थी। उस पर उन्होने जो टिप्पणी की, उसमे विचारो के प्रति एकता का भाव है। आचार्यश्री ने शान्ति का सन्देश ता० २६-६-४५ को दिया था। उसका प्रकाशन कुछ विलम्ब से हुआ था। उस पर महात्मा गाधी ने टिप्पणी की—"ऐसे सन्देश निकालने मे देरी क्यो ?" विश्व शाति के उपायो का निर्देश करते हुए आचार्यश्री ने एक जगह 'सम्यक्त्व' की चर्चा की थी। उस पर महात्माजी ने लिखा—"क्या इस सम्यक्त्व का प्रचार किया गया ? पृष्ठ २१ पर विश्व शान्ति के नौ उपायो की चर्चा है। उस पर उन्होने लिखा—"क्या ही अच्छा होता कि दुनिया इस महापुरुष के नियमो को मानकर चलती ?"

आचार्यश्री को महात्मा गाधीजीके विचार अधिक पढने को मिले हैं। इसलिए वे उनसे प्रभावित हैं महात्मा गाधी को आचार्यश्री के विचार उस सन्देश के सिवाय पढने को नही मिले, फिर भी वे उनसे अप्रभावित न रहे इसीलिए कल्पना दौडती है कि यदि मिलन होता तो निस्सदेह अहिंसा की भूमिका सुदृढ बनती।

आचार्यश्री और स्पेंश

विचार-क्रान्ति के शैशव मे आचार्यश्री का जिन व्यक्तियो से विचार-सगम हुआ, उनमे से एक थे भारत के सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश श्री पी० डब्ल्यू स्पेंश वे। फतेपुर मे आचार्यश्री से मिलने आए थे। विचार-विनिमय के क्रम मे उन्होंने पूछा—

"क्या राजनीति और धर्म एक ही है ?"

आचार्यश्री—"नही।"

स्पेंश—"कैसे ?"

आचार्यश्री—"राजनीति धर्म सापेक्ष हो सकती है किन्तु समूची राजनीति धर्म नही है।"

स्पेंश—"धर्म से अन्याय मिटता है, और राजनीति से भी। फिर इनमे अन्तर क्यो ?"

आचार्यश्री—"इनकी पद्धतिया भिन्न हैं। उद्देश्य और विश्वास भी भिन्न हैं।" वे कई दिनो तक आचार्यश्री से बातचीत करते रहे। जाते समय उन्होंने कहा—"मैंने कभी कल्पना भी नही की थी कि मेरे जीवन मे ऐसा सुन्दर सप्ताह गुजरेगा।"

आचार्यश्री की ओर देखें

शाकाहारी मडल के उपाध्यक्ष तथा यूनेस्को के प्रतिनिधि श्री वुडलैण्ड व्हेलर बम्बई मे आचार्यश्री से मिले। उन्होने अनेक जिज्ञासाए की।

व्हेलर—"रूस विश्व की समस्याओ के समाधान के लिए साम्यवाद के रूप मे जो समाधान प्रस्तुत करता है उसके सम्बन्ध मे आपके क्या विचार हैं ?"

आचार्यश्री—"साम्यवाद आर्थिक समस्या का समाधान हो सकता है किन्तु विश्व की समस्या केवल आर्थिक ही नही है।"

व्हेलर—"क्या कानून से बुराईयो का उच्छेदन हो सकता है ?"

आचार्यश्री—"कानून का अपना क्षेत्र है। डण्डे के भय से लोग बुराई करने से घबराते भी हैं पर उनका उच्छेदन तो हृदय-परिवर्तन से हो सकता है ?"

व्हेलर—"आज एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को धोखा देने मे अपनी दक्षता मानता है, तो क्या धोखा देने वाले के प्रति धोखे का वर्ताव किया जाए ?"

आचार्यश्री—"हमारी मान्यता यह है कि धोखा देने वाला स्वय धोखा खाता है, भले फिर वह क्षण भर के लिए आख मिचौनी कर ले कि मैंने उसे ठग लिया है। जिसे अपनी भलाई मे आस्था हो, उसे धोखे का वर्ताव नही करना चाहिए।"

व्हेलर—"आप दूसरो की बुराईयो पर टीका करते है या मौन रहते हैं ?"

आचार्यश्री—"वैयक्तिक बुराईयो पर टीका करने की हमारी नीति नही है। सामुदायिक रूप मे हम बुराईयो की निःसकोच टीका करते है।"

व्हेलर—"आपके पास अनेक लोग आते हैं विभिन्न प्रतिज्ञाए लेते हैं। आप उन्हे दिलाते हैं किन्तु वे इन प्रतिज्ञाओ को पालेंगे या नही यह कैसे जान पाते हैं ?"

आचार्यश्री—"आखिर विश्वास का भी तो कोई मूल्य है। भारतीय मानस प्रतिज्ञा तोडने मे बहुत भीरु है। क्वचित् स्खलना होने पर उसका प्रायश्चित भी होता है। प्रतिज्ञा का आधार व्यक्ति का वर्तमान मानस है। भविष्य को कौन कैसे तोल सकते हैं ?"

व्हेलर—"हिंसा के बिना जीवन नही चलता, तब सुख कैसे सभव है ?"

आचार्यश्री—"यह सापेक्ष है। जैसे-जैसे अहिसा की मात्रा बढती है, वैसे-वैसे सुख भी बढता है। यह सही है अहिंसा के बिना वास्तविक सुख की प्राप्ति नही होती।"

व्हेलर—"ससार मे जो दृश्यमान है, वह सब क्षणभगुर है फिर व्यक्ति किस लिए प्रवृति करे ?"

आचार्यश्री—"व्यक्ति का जीवन भी क्षणभगुर है। वह कुछ प्रवृतिया आवेगो से प्रेरित होकर करता है कुछ अपेक्षाओ से प्रेरित होकर करता है और कुछ मोह से मूढ बनकर करता है।"

श्रीमती व्हेलर ने कहा—"मैं हमारे पोप मे और आप मे बहुत बडा अन्तर देख रही हूँ। एक ओर परिग्रह ही परिग्रह है तो दूसरी ओर अपरिग्रह ही अपरिग्रह। जीवन विकास के लिए आपका अनुगमन बहुत आवश्यक है।"

व्हेलर ने सस्मित कहा—"भारत के लोग हम लोगो की ओर ताकते हैं किन्तु मैं उन्हे बताना चाहता हूँ कि वे आपकी ओर देखें ?"[1]

डॉनेल्ड दम्पती की भेंट[2]

डानेल्ड कैंप कैनेडियन पादरी थे। वे जलगाव में आचार्यश्री से मिलने आये। वार्तालाप के प्रारम्भ मे ही श्रीमती कैंप ने कहा—"बाइविल के अनुसार हम ऐसा मानते हैं कि न्यायी व्यक्ति ही श्रद्धा से जीवन बिताता है।"

आचार्यश्री—"हम भी यही कहते हैं—सच्चा श्रद्धालु वही है, जो अन्याय न करे, न्याय से बरते।"

श्रीमती कैंप—"प्रभ यीशु ने कहा—कि प्रत्येक व्यक्ति यह सोचे—जिस किसी को मारना चाहता है वह तू ही है।"

आचार्यश्री—'यह अच्छी बात है। भगवान् महावीर की वाणी मे यही है—ज हत व्वति मन्नसि त तुम चेव—जिसे मारना चाहता है वह तू ही है।"

कैंप—"इस अशान्ति और दुख का कारण क्या है ?"

आचार्यश्री—"अध्यात्म की विस्मृति।"

कैंप—"हम यह मानते हैं कि मनुष्य मे जो पाप है, उनके कारण अशान्ति है।"

आचार्यश्री—"पाप इसीलिए तो है कि मनुष्य आत्मा को विस्मृत कर रहा है।"

कैंप—"हमारी मान्यतानुसार मनुष्य जब पैदा होता है तब पापमय पैदा होता है।"

आचार्यश्री—"केवल पापमय कोई नही होता, पाप और पुण्य दोनो व्यक्ति से चिपटे रहते हैं।"

कैंप—"मनुष्य जो भी पाता है वह ईश्वर का दिया पाता है, उसे ईश्वर ही पैदा करता है—क्यो यह सच है न ?"

आचार्यश्री—"मैं आत्मा के कर्तृत्व मे ही विश्वास करता हूँ। मैं पुरुषार्थ की मर्यादा मे इस अकर्मण्यता को कोई महत्त्व नही देता।"

कैंप—"मनुष्य की आत्मा मे शैतान बैठा है, वही मनुष्य को बुरे कर्मो मे प्रवृत्त करता है।'

आचार्यश्री—"मनुष्य जो भी पाता है वह ईश्वर का दिया हुआ पाता है तब फिर शैतान की आड क्यो ?"

कैंप—"प्रभु यीशू की शरण मे जाने से वह सब पापो से छुटकारा दिला देता है। क्या आप यह मानते हैं कि मनुष्य अपने आप कार्मो के लिए स्वय प्रायश्चित कर सकता है ?"

आचार्यश्री—"हमारी मान्यता मे तो मनुष्य स्वय ही अपने पाप का प्रायश्चित कर सकता है। दूसरे तो केवल निमित्त बन सकते हैं। अच्छाई और बुराई का मूल

---

१ जैन भारती, २० फरवरी, १९५५

२ १२ मार्च, १९५५

स्वय मनुष्य ही है।"

कैप—"कृपया वतलाइए—आत्मा पाप कर्म क्यो करती है ?"

आचार्यश्री—"अज्ञानवश, मोहवश।"

कैप—"आपके विचारानुसार क्या गृहस्थ भी पापमुक्त हो सकते हैं ?"

आचार्यश्री—"क्यो नही। जो सयम की साधना करते है, वे सब पाप मुक्त हो सकते है।"

कैप—"तो फिर गृहस्थ और साधु मे क्या अन्तर है ?"

आचार्यश्री—"साधु केवल एक साध्य के लिए चलते हैं। गृहस्थ के सामने वही एक मात्र लक्ष्य नही होता। साधु का साध्य अविभक्त होता है—एक होता है। गृहस्थ के साध्य विभक्त होते हैं, अनेक होते हैं। साधु अपने साध्य के साधनो का ही अवलम्बन लेता है, पर गृहस्थ उन साधनो का भी अवलम्बन लेता है, जो उसके मूल साध्य के साधन नही है। और-और अनेक विषय कैंप के हृदय को छू गए। पर ईश्वर कर्तृत्व के सिद्धान्त को वे वार्तालाप की समाप्ति तक दोहराते हैं।[1]

यह विशुद्ध अध्यात्म है

आचार्यश्री वम्बई के उपनगरो मे थे। उन्ही दिनो[2] दो अमेरिकी व्यक्तियो ने आचार्यश्री से भेट की। एक का नाम था—जे० आर० वर्टन और दूसरे का नाम था डब्लू० डी० वेल्स। वर्टन ने अपने परिचय मे कहा—"मेरा कार्य क्षेत्र अमेरिका है। ईसामसीह ने ससार को जो सदेश दिया, उसे मैं ससार भर मे फैलाना चाहता हूँ।"

वार्तालाप के प्रसग मे उन्होंने पूछा—"जैन धर्म का मौलिक रूप क्या है ?"

आचार्यश्री—"आत्म की शोध और उसके विशुद्ध रूप की उपलब्धि।"

वर्टन—"मैंने बौद्ध दर्शन मे पढा है—तृष्णा को मिटाना जीवन विकास का साधन है। इस विषय मे जैन दर्शन का क्या अभिमत है ?"

आचार्यश्री—"तृष्णा जीवन विकास मे सबसे वडी वाधा है, जैन दर्शन इसे मानता है।"

वर्टन—"ईसा के उपदेशो के वारे मे आपका क्या अभिमत है ?"

आचार्यश्री—"ईशा के अनेक उपदेशो को मैं बहुत आदर की दृष्टि से देखता हूँ।"

वर्टन—"क्या आप अपने कठिनाईपूर्ण जीवन मे सतुष्ट हैं ?"

आचार्यश्री—"साध्य की सिद्धि के लिए जो कठिनाई झेली जाती है, उसमे व्यक्ति को असतोष नही होता। वह वहा होता है, जहा उसे कठिनाई वलात् झेलनी पडती है।"

१८ ता० को वे फिर आचार्यश्री से मिले। लगभग एक घण्टा तक आचार्यश्री

---

१ जैन भारती २९ मई, १९५५

२ १० नवम्बर, १९५४

का प्रवचन सुना, फिर वार्तालाप किया । पहला प्रश्न उनका था—"आपकी धर्म-प्रचार की प्रणाली क्या है ?"

आचार्यश्री—"केवल शिक्षा और हृदय-परिवर्तन । हम धर्म के क्षेत्र मे और किसी प्रलोभन को वाछनीय नही मानते ।"

वर्टन—"क्या आप धर्म परिवर्तन भी कराते हैं ?"

आचार्यश्री—"मैं कराने वाला कौन हूँ ? कोई चाहे तो मेरे विचारो का अनुगमन कर सकता है । जैन धर्म के अनुसार धर्म परिवर्तन का अर्थ जाति परिवर्तन नही है । धर्म के आधार पर मनुष्य जाति को विभक्त किया जाता है, उसे मैं उचित भी नही मानता ।"

वर्टन—"क्या दोषो की शुद्धि के लिए पश्चाताप पर्याप्त है ?"

आचार्यश्री—सर्वथा नही । दोष विशेष हो तो पश्चाताप से आगे भी कुछ करना चाहिए ।"

वर्टन—"श्रद्धा का क्या तात्पर्य है ?"

आचार्यश्री—"सत्य के प्रति विश्वास ।"

वर्टन—"सत्य क्या है ?"

आचार्यश्री—"ज्ञेय की दृष्टि के सभी पदार्थ सत्य हैं किन्तु, हम साधना की दृष्टि से सोचते हैं । इसलिए सत्य है—आत्मा, परमात्मा और अध्यात्म ।"

वर्टन—"अब कृपया बतलाइये—श्रद्धा का बाह्य चिन्ह क्या है ?"

आचार्यश्री—"जिसके प्रति श्रद्धा हो, उसके लिए सम्मान प्रदर्शन, जीवन समर्पण ।"

वर्टन—"क्या उपवास मे आपका विश्वास है ?"

आचार्यश्री—"अवश्य ।"

वर्टन—"केवल पानी के आधार पर ४० तथा ६० दिन का उपवास मैंने देखा है और ११ दिन का उपवास मैंने स्वय किया है ? आपके यहा कितने दिनो का हुआ है ?"

आचार्यश्री—"१०८ दिनो का ।"

वर्टन—"आश्चर्यकारी घटना है । ईसाई धर्म की यह मान्यता है कि सप्ताह मे दो वार उपवास करना चाहिए ।"

आचार्यश्री—"क्या मासाहार को छोडने की बात आप पसन्द करेंगे ?"

वर्टन—"मैं मांसाहार को उत्तम नही मानता हूँ । अपने देश मैं जाकर में इसे छोडने का प्रयास करूगा ।"

वर्टन—"क्या कर्त्तव्य ही धर्म है ?"

आचार्यश्री—"धर्म अवश्य कर्त्तव्य है, पर सब कर्त्तव्य धर्म नही हैं । कर्त्तव्य की व्याख्या विभिन्न साध्यो के आधार पर होती है । धर्म की व्याख्या केवल मोक्ष को साध्य मानकर की जाती है ।"

वर्टन—"मैं भी चर्च मे बहुधा कहा करता हूँ कि जितने कर्त्तव्य हैं वे सब के

सब धर्म नही है। धर्म की विशुद्ध व्याख्या पाकर मैं बहुत अनुगृहीत हुआ हूँ। ऐसे अवसर की फिर कामना करता हूँ।"

डा० के० जी० रामाराव

जीवन सक्रियता का प्रतीक है। वैराग्य होने का अर्थ है कर्म विमुखता। फिर जीवन और वैराग्य का सामञ्जस्य कैसे हो सकता है?"

आचार्यश्री—"वैराग्य का अर्थ निष्क्रियता नही है। वह केवल प्रवृत्ति का मार्गान्तरण है। पदार्थ-परक प्रवृत्ति जब आत्मपरक हो जाती है, तब उसे वैराग्य कहा जाता है।

रामाराव—"समाज प्रवृत्ति का हेतु है—दूसरो के लिए जीना।" यदि प्रत्येक व्यक्ति वैराग्य को स्वीकार करले तो क्या यह स्वार्थ नही होगा?"

आचार्यश्री—"यह स्वार्थ है तो भी इसमे कोई दोष नही है। परमार्थ विशुद्ध स्वार्थ मे से ही उद्भूत होता है।"

रामाराव—"गृहस्थ के लिए कुछ-न-कुछ करना आवश्यक तो है ही?"

आचार्यश्री—कुछ-न-कुछ करना तो साधुओ के लिए भी आवश्यक है? प्रवृत्ति का क्षेत्र भिन्न हो सकता है किन्तु जीवन मे निष्क्रियता नहीं होती।"

जहा दो व्यक्ति मिलते हैं, वहा चिन्तन चलता है, विचार गतिशील बनते हैं। उस गति मे से जो स्थिति उत्पन्न होती है वह आलोक देती है। आचार्यश्री के जीवन मे ऐसे अनेक प्रसग आए हैं, जिनसे उन्हे, उनके साथ बातचीत करने वालो को तथा सबको एक नया आलोक मिला है।

श्रद्धाञ्जलियां

आचार्यश्री का जीवन घटना-बहुल, सगम-बहुल, क्रिया-बहुल, चिन्तन-बहुल और परिव्रजन-बहुल है। प्रत्येक विषय अपने आप में परिपूर्ण हैं। किन्तु उसे अकित करने मे अपूर्णता ही रहती है। इस अपूर्णता मे से जो परिपूर्णता की ध्वनि निकलती है, वही जीवन की गाथा है। आचार्यश्री के परिव्रजन मे कठिनाईयो, आनन्द, उल्लासो, जनहित के प्रयत्नो और जनता की भावभीनी श्रद्धाञ्जलियो की अनेक गाथाए भरी पडी हैं। यह अध्याय उनकी एक सक्षिप्त झाकी है।

आचार्यश्री जहा गए, वहा अपूर्व स्वागत हुआ। सभी वर्ग के लोगो ने उनके कार्यक्रम का हार्दिक अभिनन्दन किया। आचार्यश्री ने स्वागत उसी को माना, जो त्याग की वेदी पर चढकर किया गया। शाब्दिक श्रद्धाञ्जलियो को उन्होंने कोई महत्त्व नही दिया और यदि उनके स्वागत के लिए आडम्बर किया गया, उसकी कडी आलोचना की। आचार्यश्री ने एक बार कहा—"हम भिक्षु बनकर आए हैं, अतिथि बनकर नही। हमारा स्वागत आकिञ्चन्य से हो सकता है, समृद्धि से नही। स्वागत वही करे, जो उसके लिए उपयुक्त हो। जिसका स्वागत किया जाए, उसका अनुसरण नही, यह कैसा

स्वागत।" आचार्यश्री चरित्र-विकास के लिए चरित्रवान् व्यक्ति को ही प्रधानता देते हैं। यो तो उन्हे श्रद्धाञ्जलि समर्पित करने वहुत लोग आते हैं। भारतीय भी आते हैं, और विदेशी भी आते हैं, चरित्र की शिक्षा लेने भी आते हैं और स्वार्थ सिद्धि के लिए भी आते हैं। आचार्यश्री के व्यापक प्रभाव और महान् व्यक्तित्व से आकृष्ट होकर भी आते हैं और उसे आवृत करने भी आते हैं, धर्म मे श्रद्धा रखने वाले भी आते हैं और उसमे विश्वास न रखने वाले भी आते हैं। आने वालो मे कुछ भ्रान्त होते हैं और स्पष्ट भी। किन्तु अच्छाई यह है कि आने-जाने का द्वार खुल गया।

आचार्यश्री बनारस[1] मे थे। बौद्ध भिक्षु जगदीश काश्यप से वातचीत हो रही थी। आचार्यश्री के आदेशानुसार मैं उन्हे निर्मीयमाण साहित्य से परिचित करा रहा था। पीछे से डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी भी आ गए। वे मूक भाव से सब सुनते रहे। जगदीशजी चले गये। द्विवेदीजी से वातचीत शुरू हुई। उन्होंने आरम्भ मे ही कहा—"मैं आज तक आपको एक प्रचारक के रूप मे ही जानता था। आज मैंने आपका जो निर्माणात्मक रूप देखा है उससे परिचित होता तो अवश्य ही मैं एक दो सप्ताह लगा कर इन सारी कृतियो को देखता। किन्तु अब तो आप जा रहे हैं।"

आचार्यश्री धूलिया[2] मे थे। शिवाजी भावे मिले। एक रात आचार्यश्री उनके स्थान पर ही ठहरे। विविध वातें हुई। अन्त मे उन्होंने कहा—"तेरापथ के वारे मे मुझे गलत वातें वताई गई। यद्यपि मैंने उनपर कोई ध्यान नही दिया। और मैं सुनी-सुनाई वात पर धारणा बनाता भी नही हूं। आज मुझे वहुत आनन्द मिला। तेरापथ बडा गम्भीर तत्वज्ञान प्रस्तुत करता है। भिक्षु स्वामी ने सूत्र रूप मे बडा गहरा तत्वज्ञान दिया है।"[3]

आचार्यश्री वम्बई मे थे। वहा हस कोइस्टर मिले। ये पहले भारत स्थित जर्मन दूतावास मे कौन्सल जनरल थे। उन्होंने आचार्यश्री से आत्मा की अमरता आदि विषयो पर वार्तालाप किया। कुछ दिनो वाद उन्होंने लिखा—"वम्बई मे आचार्यश्री से भेंट हुई, उसे मैं अपना सौभाग्य मानता हूँ। उनकी आध्यात्मिक महत्ता और विचारो की स्पष्टता से मैं वहुत अधिक प्रभावित हुआ हूँ। वातचीत के प्रसग मे मैंने आत्मा, पुनर्जन्म, और कर्म सम्बन्धी प्रश्न पूछे। इन सत्यो से पाश्चात्य जगत् सर्वथा अनजान नही है। हा, वह इन सत्यो को अपने स्वतन्त्र ढग से सोचता है। उसने पूर्वीय सिद्धान्तो की नकल नही की है। स्विटजरलैण्ड के डा० रुडोलफ स्टीनर, जो अपने समय के एक महान् दार्शनिक थे और जो सन् १९२५ मे डिनार्क मे दिवगत हुए। उनसे इसी सिद्धान्त का अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'एन्थ्रो प्रोसोफी' मे वडे विस्तार से वर्णन किया है। यह ग्रन्थ स्विटजरलैण्ड की 'एन्थ्रो प्रोसोफिक सोसाइटी' के द्वारा प्रकाशित भी हो चुका है।

आचार्यश्री तुलसी ने कहा कि पुनर्जन्म के बिना मनुष्य की आत्मा का वर्णन

---

१ स० २०१५

२ स० २०१२

३ आचार्यश्री की डायरी—२०१२ जेठ सुदि १३—धूलिया

नही हो सकता और आत्मा के बिना मनुष्य का वर्णन नही हो सकता। मेरे मत मे जैन-धर्म और एन्थ्रोप्रोसोफी के अनेक सिद्धान्तो में अत्यधिक एकता है।

"जैन-धर्म आजकल जो उन्नति कर रहा है, उसे जानकर मुझे बहुत खुशी हुई। तेरापथी सम्प्रदाय को मानने वाले जिस पवित्रता से अपनी यवावस्था से ही जीवन व्यतीत करते हैं वह सचमुच ही स्तुत्य है। वे जानते हैं कि समाज का सुधार व्यक्ति के निजी जीवन को सुधारे बिना नही हो सकता। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रत-आन्दोलन चलाया है। यह नैतिक आन्दोलन प्रारम्भ से ही बल पकडता जा रहा है। जनता के परम कल्याण के लिए यह और अधिक सफल हो—यही मेरी भावना है।"[1]

अमेरिका स्थित पेनसिलवेनिया विश्वविद्यालय मे सस्कृत के प्रोफेसर तथा साउथ एशिया (हिन्दुस्तान, पाकिस्तान, अफगानिस्तान, नेपाल और लका) स्टडीज के अध्यक्ष डा० डब्ल्यू नोरमन ब्राउन आचार्यश्री के पास आये। उन्होने कहा—"भारतवर्ष से मेरा सम्बन्ध बचपन से है। मैं कई बार यहा आया हूँ। मैंने शत्रुञ्जय, गिरनार, बनारस, कलकत्ता आदि की यात्राए की हैं। आपके सम्पर्क मे आने का मौका मिला, इसकी मुझे प्रसन्नता है।" वार्तालाप के प्रसग मे डॉ० ब्राउन ने पूछा—"जहा जैन नही हैं—वहा आपका प्रचार कैसे चलता है?"

आचार्यश्री—"जैन कोई जाति नही है। जो अपने आपको जीतना चाहते है—वे सब जैन हैं। इसलिए हमारा क्षेत्र सकीर्ण नही है। जाति, समुदाय या वर्ण भेद के आधार पर हम धर्म-पालन मे भेद रेखा नही खीचते।"

डॉ० ब्राउन—"मुझे लगा आप किसी सम्प्रदाय का प्रचार नही करते, धर्म के सत्य स्वरूप का प्रचार करते हैं, जैसा कि भगवान् महावीर आदि तीर्थंकर करते थे।"

आचार्यश्री—"आप सही कह रहे हैं। हमारा जैन धर्म किसी सम्प्रदाय मे बद्ध नही है। वह आकाश की भाति मुक्त है। जहा-जहा आत्मा की शुद्धता है वहा सर्वत्र जैनत्व है।"

डॉ० ब्राउन ने प्राकृत मे भाषण सुनने की प्रबल जिज्ञासा व्यक्त की। आचार्यश्री ने मुझे सकेत दिया और उनकी जिज्ञासा पूर्ण हुई।[2]

आचार्यश्री जयपुर मे थे। वहा चीनभवन, शान्ति निकेतन के अध्यक्ष प्रो० तान-युन-शान आये। वे वापस चले गये। कुछ समय पश्चात् उन्होने शान्तिवादी सम्मेलन के सदस्यो को टी-पार्टी दी। तब वार्तालाप के क्रम मे उन्होंने बताया—"हमारे यहा चार प्रकार के पुरुष माने गए हैं

प्रथम—मन से भी शुद्ध और शरीर से भी शुद्ध।

द्वितीय—मन से शुद्ध शरीर से अशुद्ध।

तृतीय—मन से अशुद्ध और शरीर से शुद्ध।

---

१ जैन भारती ६ जनवरी, १६५५

२ जैन भारती १६ सितम्बर, १६५४

चतुर्थ— मन से भी अशुद्ध शरीर से भी अशुद्ध ।

हमने जयपुर में प्रथम श्रेणी के पुरुषों को देखा है। उन्हीं दिनों जयपुर में कलकत्ता विश्वविद्यालय के दर्शन विभागाध्यक्ष डॉ० सतकोडी मुखर्जी भी आए थे। उन्होंने आचार्यश्री के उदीयमान व्यक्तित्व को उसी समय कल्पनाओं की रेखाओं में अंकित कर दिया। उन्होंने लिखा था—विद्वानों तथा विद्वता का पेशा अपनाये हुए व्यक्तियों की जो पेशावी विद्या-वृद्धि का अत्यधिक गर्व किया करते हैं, कमजोरियों से मुक्त मैं अपने आपको नहीं मानता। पर मैंने उनकी उपस्थिति में पाया कि यह कमजोरी दब गई तथा मैंने अपने को उनके सम्मुख एक शिशु के रूप में अनुभव किया। मेरे मन पर यह प्रभाव पड़ा कि वे भ्रान्त मानवता के मुक्तिदाता हैं। प० मुन्नलालजी ने इसकी कटु आलोचना की। डॉ० मुखर्जी तक वह घटना पहुँची, तो उन्होंने एक पत्र लिखा। उस में लिखा था—"किसी व्यक्ति को ज्ञान का गर्व हो सकता है। वह कह भी सकता है, आचार्य क्या जानते हैं? किन्तु मैं तो जब-जब आचार्यश्री के सान्निध्य में जाता हूँ तब मुझे बहुत शान्ति का अनुभव होता है और मैं वहां बहुत पाने की आशा से जाता हूँ।"

आचार्यश्री सबको महत्त्व देते हैं। वे किसी को हीन नहीं मानते। इसलिए सहज ही उन्हें महत्त्व मिल जाता है। शिवाजी भावे से प्रथम-मिलन में ही इतना सहज-सामीप्य हो गया कि वे आचार्यश्री और अपने बीच कोई दूरी का भाव नहीं रखते। एक बार उन्होंने लिखा था—"आपके समाचार अणुव्रत और खासकर जैन भारती मैं पढ़ता रहता हूँ और बीच-बीच में तेरापंथी साधुओं का आपकी कृपा से सत्संग भी प्राप्त होता रहता है।

अणुव्रत का कार्य तो अत्यावश्यक है ही लेकिन सत्य ज्ञान बगैर वह असंभव है। इसी दृष्टि से तेरापंथी साधुओं का ज्ञान कार्य भी मुझे बड़ा आकर्षक लगा है। अणुव्रत के लिए मैं स्थूल रूप में कुछ करूं, इसकी अपेक्षा मुझे ज्ञान कार्य में अधिक रुचि है। इसमें रुचि होने से अधिक कार्य कर सकता हूँ। जो मन में चीज है, वह स्पष्ट रूप में आपके सामने रखी है। आपका स्मरण हमेशा बना रहता है। आशा करता हूँ कि मुलाकात का योग जब आएगा तब आपसे अधिक लाभान्वित हो सकूंगा।"[1]

आचार्यश्री ने उन लोगों को भी अपनाया जो पहले विरोधी थे। वे निकट सम्पर्क में आ गए हैं। कुछ लोग आलोचना करते हैं, कुछ लोग अब नहीं करते पर आचार्यश्री दोनों श्रेणी के लोगों के साथ आत्मीयता का व्यवहार करते हैं। वे आलोचना से चिढ़ते भी नहीं। उसे श्रद्धांजलि के रूप में ही स्वीकार करते हैं। उन्होंने कई बार ऐसा सुझाव दिया था—"हमारे विषय में जो कोई आलोचना, आक्षेप या विरोध-युक्त साहित्य प्रकाशित होता है, उसका व्यवस्थित संग्रह होना चाहिए। वह भविष्य में बहुत उपयोगी होता है। भिक्षु स्वामी पर किसी व्यक्ति ने आरोप लगाए। उन्होंने सब लिख लिए। उन आरोपों की संख्या कोई डेढ़ सौ से अधिक है। आज वे हमारे लिए उपयोगी हैं। हमारे ऊपर लगाए जाने वाले आरोप भी आगे उपयोगी हो सकते हैं।"

---

१ ता० १२-५-५८

आचार्यश्री बम्बई में थे। एक दिन एक पादरी आये। उनका नाम था एच० विलियम्स। वे नेशनल चर्च के अध्यक्ष थे। आते ही बोले—"मैं आया नहीं हूँ—आपने मुझे बुलाया है।"

आचार्यश्री—"सो कैसे ?"

फादर—"मैं अपने चर्च में था। उस समय ३०-३५ आदमी आये। मैं उन्हें देखता रह गया। मैंने सोचा ये किसलिए आये हैं। इतने में वे निकट आये और बोले—"हम आचार्यश्री तुलसी के शिष्य हैं। आपसे ईसाई धर्म के विषय में कुछ सुनने के लिए आये हैं। मैं तो अवाक् रह गया। भला ऐसा भी कोई धर्माचार्य हो सकता है जो अपने शिष्यों को दूसरों के पास भेजे और दूसरा धर्म सुनने को प्रेरित करे। मैं तब से ही आपका हो गया हूँ और खिचा-खिचा आपके पास आया हूँ।" फादर विलियम्स ने अणुव्रती बनकर ही श्रद्धांजलि अर्पित की। अणुव्रत-आन्दोलन के प्रसार के लिए अनेक प्रयत्न भी किये।

उसी बम्बई की बात है। अमरीका के अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिज्ञ और ईसाई धर्म के विद्वान् श्री वेकनवान ब्लम्बर्ग ने[1] ने आचर्याश्री से भेंट की। अणुव्रत-आन्दोलन की जानकारी प्राप्त करके बोले—"मैं चाहता हूँ कि मानव जाति के नैतिक उत्थान के उद्देश्य से चलने वाली इस योजना का पश्चिम में भी प्रसार हो। यह आन्दोलन पश्चिम और पूरब का सन्तुलित समन्वय साधने का एक सुन्दर उपक्रम है।"[2]

आचार्यश्री को श्रद्धाञ्जलि समर्पित करने का अर्थ है, आत्म-विकास को श्रद्धाञ्जलि समर्पित करना और आत्म-विकास के लिए अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करने का अर्थ है, आचार्यश्री को श्रद्धाञ्जलि समर्पित करना।

आचार्यश्री ने सत्य को निश्छल भाव से पाने का यत्न किया है। इसलिए उसकी सन्निधि में वे सब लोग आते हैं जिनमें सत्य की थोड़ी-भी जिज्ञासा होती है। बम्बई में एक दिन आचार्यश्री के सान्निध्य में पूर्वी व पश्चिमी धर्म-चिन्तनों की एक गोष्ठी हुई। उसमें सम्प्रदाय आवृत्त हो रहे थे और सत्य अनावृत्त हो रहा था। मुझे लगा आज आचार्यश्री को सही अर्थ में श्रद्धाञ्जलि अर्पित हो रही है। अमरीकी राजनीतिज्ञ और ईसाई धर्म के विद्वान् श्री ब्लम्बर्ग ने कहा—"आत्मतृप्ति की भूख सबमें है। वह तृप्ति भौतिक सुविधाओं से मिलने वाली नहीं है।

ईसाई नेता श्री ब्राहमन ने कहा—"मैत्री भाव का विकास आवश्यक है।"

बाइबिल के विश्व विख्यात विद्वान् श्री बक्सटर ने कहा—"अध्यात्म शक्ति ही वह वस्तु है जो संघर्षों की भीषण आग को शान्त कर सकती है।"

रामकृष्ण मिशन, बम्बई के अध्यक्ष स्वामीश्री संबुद्धानन्दजी ने कहा—"किसी को मत सताओ, किसी की भावना को चोट मत पहुँचाओ। यह भारतीय चिन्तन का सार है।"

---

१. १६ सितम्बर, १९५४

२. जैन भारती, ३ अक्टूबर, १९५४

वम्बई जोराष्ट्रीयन जशन कमेटी के प्रमुख तथा पारसी धर्म के विद्वान् श्री दस्तूरीजी कैखुसरू ने कहा—"सच्चा वीर वह नहीं, जो पाशविक बल से भूमि को रक्तरंजित बना दे। किन्तु सच्चा वीर वह है, जो अपने आपको जीते।"

आर्य समाज के विद्वान् श्री विजयशंकर ने कहा—"सत्य ही धर्म है। जो सत्य नहीं है, वह धर्म भी नहीं है।"

इन श्रद्धाञ्जलियों में अपनी अञ्जलि सम्मिलित करते हुए आचार्यश्री तुलसी ने कहा—"व्यक्ति के चिन्तन और वर्तन दोनों में सच्चाई होनी चाहिए। सोचना कुछ और कहना कुछ तथा करना कुछ, यह अपने अन्तरतम के प्रति विद्रोह है। भगवान महावीर ने कहा—प्राणी तू ही अपने सुख-दुख का कर्ता है। तू ही तेरा शत्रु है और तू ही तेरा मित्र है। अपने भाग्य की सृष्टि तेरे अपने हाथ में है।[1]

परिव्रजन के समय आचार्यश्री के विचारों को जन-जन तक पहुँचाने में आदर्श-साहित्य संघ व उसके संचालक जयचन्दलालजी दफ्तरी, सुगनचन्दजी आचलिया, हणुतमलजी सुराणा, छगनलालजी शास्त्री आदि का अविस्मरणीय योग रहा है।

---

१ जैन भारती, ३ अक्टूबर, १९५४

: ५ :

विचार-मंथन

व्यक्तित्व की प्रतिमा

व्यक्तित्व की प्रतिमा दो धातु से बनती हैं। वे धातुएं हैं—आचार और विचार। ये ही जीवन के दो पक्ष हैं। इन्ही के सहारे व्यक्ति उडान भरता है और बहुत ऊचाई तक पहुँच जाता है। आचार की ऊचाई मे विचारो की गहराई होती है और विचारो की ऊचाई मे आचार की गहराई होती है। दोनो एक दूसरे को थामे हुए हैं।

समुद्र की गहराई और पर्वत की ऊचाई को व्यक्ति नाप सकता है, पर विचारो की गहराई और ऊचाई नाप सके, वैसी शक्ति कोई नही है। मैं आचार्यश्री के विचारो की थाह पाने का यत्न नही कर रहा हूँ। उनका स्पर्श ही मेरे लिए पर्याप्त है।

आस्था

विचारो के उत्स दो होते हैं—निसर्ग और चिन्तन। आचार्यश्री के विचार चिन्तन की अपेक्षा निसर्ग के अधिक समीप हैं। वे आत्मा की सन्निधि मे विश्वास करते हैं। इसलिए उनकी स्फुरणा जितनी सहज है उतनी शास्त्रीय नही है। युद्धोत्तर काल मे जब जन-मानस अप्रामाणिकता से आक्रान्त हो रहा था, विकृतिया प्रसार पा रही थीं, उस समय आचार्यश्री ने एक मार्मिक बात कही। उससे समस्या का परिधान ही नष्ट हो गया। लोग कहते थे—सच्चाई का नाम शेष हो रहा है—आज के युग की सबसे बडी समस्या है। आचार्यश्री ने तब कहा—"सबसे बडी समस्या यह है कि सच्चाई के प्रति आस्था नही रही है। सच्चाई का अभाव जितना चिंताजनक नही है उतना चिंता-जनक है उसके प्रति आस्था का अभाव। उसके प्रति आस्था हो तो वह फिर प्रतिष्ठा पा सकती है। किन्तु आस्था का रूप यह हो जाए कि आज झूठ के बिना काम चल ही नही सकता, तब सच्चाई की पुन प्रतिष्ठा की आशा ही कैसे की जाए।

अनुशासन

युग की सर्वोपरि समस्या आस्था और अनास्था के बीच मे है। पदार्थ मे आस्था फलित हुई है। अपने में अनास्था पनपी है। असयम और अनुशासन-हीनता इसी मनो-वृत्ति के परिणाम है। बाहरी विधि-विधानो का जाल भी इसी परिस्थिति मे बिछ

पाता है। आचार्यश्री ने एक बार कहा था—"अन्तर की आख खुलने पर दीया आलोक देने नही आता। दीया स्वय नही जलता, जलाया जाता है। मर्यादाए स्वय नही आती, वे बुलाई जाती हैं। बुलाने वाला कौन ? वही, जो स्वय नियन्ता न हो। जो जितना अधिक नियन्त्रण-हीन होता है, वह उतना ही अधिक अपने आस-पास मर्यादा का जाल बुनता है।"[1] सयम और अनुशासन परस्पर परिव्याप्त हैं। सयम के बिना कोई अनुशासित नही होता और जो अनुशासित नही होता, वह सयम को नही साध सकता। हिन्दुस्तान स्वतन्त्र हो गया। पर उसने अपने परम्परागत सहज स्वतन्त्रता की स्मृति को धुधला बना दिया। उस स्थिति मे अनेक समस्याए उठ खडी हुई। विद्यार्थियो की अनुशासन-हीनता से शिक्षक और शासक दोनो अधीर हो उठे। आचार्यश्री समय-समय पर विद्यार्थियो के बीच गये और उन्हे समझाया—"आप विद्यार्थी हैं, इसलिए तोड-फोड व विध्वसक मूलक कार्यों मे भाग न लें। राजनीतिक सघर्षों और विप्लवो मे अपनी शक्ति, प्रतिभा और समय का दुरुपयोग न करें। अनुशासन, नम्रता, सद्व्यवहार और सयत आचरण विद्यार्थी के अमूल्य आभूषण है। उन्हें धारण करना प्रत्येक विद्यार्थी का आवश्यक कर्त्तव्य है।"[2]

अनुशासनहीनता केवल विद्यार्थियो मे ही नही है। उसे समाज के अनेक अगो मे प्रवेश मिला है। स्वतन्त्रता दिवस का उत्सव मनाने वालो को सम्बोध देते हुए आचार्यश्री ने कहा—"अपने पर नियन्त्रण न हो सके तब कैसी स्वतन्त्रता ? स्वतन्त्रता मे सुख और परवशता मे दुख, यह सत्य या तो सत्य नही है या इसका सही रूप पकडा नही जा रहा है। अवश्य कही भूल है।

मैं समझता हूँ मूल सिद्धान्त मे नही, भूल उसे पकडने मे हो रही है। स्वतन्त्रता अपना निजी गुण है। अन्याय के सामने न झुकने वाले विदेशी सत्ता मे भी स्वतन्त्र रह सकते हैं और और अन्याय के प्रवर्त्तक स्वदेशी सत्ता मे भी स्वतन्त्र नही बनते। विदेशी सत्ता हटने पर आत्मानुशासन आना चाहिए था, वह आया नही। इसलिए सच्ची स्वतन्त्रत नही आई।[3]

जब-जब अनुशासनहीनता का प्रदर्शन हुआ है तब आचार्यश्री ने उसकी आलोचना की है और जनता को पथ-दर्शन दिया है। सीमा निर्णय के समय जो दगे हुए, उस समय आपने कहा था—"सीमा कमीशन का फैसला लोगो के समक्ष आया, तब कही-कही ऐसी जघन्य घटनाए घटी कि उन्हे देखकर नागरिकता स्वय लज्जाती है। यह अनुशासन वर्जित और अश्रद्धामय मानस का परिचायक है। अत मैं राष्ट्र के नागरिको से कहना चाहूँगा कि वे अपने जीवन मे अनुशासन को पूरा-पूरा स्थान दें।"[4]

---

१ पथ और पाथेय, पृष्ठ ८

२ प्रवचन डायरी, १९५६ पृष्ठ २३

३ प्रवचन डायरी, १९५३ पृष्ठ १८२-१८३

४ प्रवचन डायरी, १९५६ पृष्ठ १८-१९

सम्प्रदाय और सम्प्रदायिकता

आचार्यश्री का चिंतन गतानुगतिक नही है। वे अपने प्रति आस्थावान् हैं। इसलिए उनके विचारो मे आस्था का ही प्रतिबिम्ब है। आज की भाषा मे सम्प्रदाय का अर्थ सकीर्णता है। आचार्यश्री इसे मान्य नहीं करते। उनकी भाषा मे सम्प्रदाय का अर्थ सकीर्ण और संकुचित बाडा बन्दी नही है। उसका अर्थ है—गुरु-क्रम, गुरु-परम्परा या सत्य के अन्वेषण की एक सतत प्रवाहमान धारा।[1]

जो सम्प्रदाय हमे विशाल दृष्टि दे, सापेक्ष चिन्तन दे, अनाग्रह की भावना दे और सत्य शोध की सम्पत्ति दे वह कभी अनुपादेय नही होता, भले फिर उसका बाहरी आकार व्यापक न हो। आचार्यश्री के शब्दो मे—"सकीर्णता और विशालता की पहचान बाहरी आकार नही है। दूर-वीक्षण का सकडा काच विशाल-दर्शन देता है। क्या हम उसे सकीर्ण मानें ? हमारी दृष्टि को विशाल बनाए, वह सकीर्ण नही होता, भले ही फिर उसका बाहरी रूप कैसा ही क्यो न हो।[2]

आचार्यश्री विभिन्न सम्प्रदायो के एकीकरण के पक्ष मे नही हैं। वे इस प्रयत्न को पाचो अगुलियो को एक बनाने के प्रयत्न जैसा मानते हैं। उनके स्वतन्त्र-चिन्तन और सिद्धान्त को कुण्ठित करने की चेष्टा आचार्यश्री के अभिमत मे मूल्यवान् नही है। आचार्यश्री विभिन्न सम्प्रदायो के तुलनात्मक अध्ययन के बहुत बडे समर्थक हैं। उनका अभिमत है—"यदि विभिन्न सम्प्रदायो के मौलिक तत्त्वो का पर्यवेक्षण किया जाए तो हम पाएगे कि उनमे समानता या समन्वय के तत्त्व अधिक हैं, असमानता के कम। आज आवश्यकता इस बात की है कि समानता के तत्त्वो को आगे रखा जाए। यही वह पथ है जो विभिन्न सम्प्रदायो के लोगो मे मैत्री और बन्धुभाव का प्रतिष्ठापन कर सकता है।[3]

आचार्यश्री सम्प्रदाय के पक्ष मे हैं किन्तु साम्प्रदायिकता उन्हे प्रिय नही है। अपने सिद्धान्त मे कोई दृढ रहे, यह निरापद है। आपत्ति वहा होती है जहा दृढता का आधार दूसरो के प्रति घृणा उत्पन्न करना होता है। आचार्यश्री की भाषा मे साम्प्रदायिकता वही है जिसमे दूसरे सम्प्रदायो के प्रति घृणा और तिरस्कार के भाव होते हैं। आपका विश्वास विचार स्वातन्त्र्य मे है। आप इसे विकास का अवरोध मानते हैं कि एक व्यक्ति जैसा सोचे वैसे ही सब सोचें कोई नया चिन्तन स्फुरित ही न हो। आचार्यश्री ने लिखा है, धर्म एक प्रवाह है। सम्प्रदाय उसका बाध है। बांध का पानी सिंचाई और अन्य कार्यों के लिए उपयोगी होता है। वैसे ही सम्प्रदाय से धर्म सर्वत्र प्रवाहित होता है। इसके बीच सम्प्रदायो मे कट्टरता, सकीर्णता, साम्प्रदायिकता आ जाए तो वह केवल स्वार्थ-सिद्धि का अग बनकर कल्याण के स्थान पर हानिकारक और आपसी सघर्ष पैदा करने वाला हो जाता है।[4]

---

१. प्रवचन डायरी, १९५६ पृ० १९
२ पथ और पाथेय, पृ० १००
३. प्रवचन डायरी, १९५६ पृ० १९-२०
४. पथ और पाथेय, पृ० ५०

अध्यात्म क्या और किसलिए ?

आचार्यश्री ने इस पौद्गलिक वातावरण मे अध्यात्म की लौ को पुनरुद्दीप्त किया है। आपके अभिमत मे—"अपने लिए, अपने द्वारा, अपना नियन्त्रण" यही है थोड़े मे अध्यात्मवाद। दूसरो के लिए अपना नियन्त्रण करने वाला और दूसरो पर नियन्त्रण करने वाला धोखा दे सकता है। किन्तु अपने लिए अपना नियन्त्रण करने वाला वैसा नही कर सकता।"

आचार्यश्री अध्यात्म की विस्मृति को सब समस्याओ का मूल मानते हैं और उनकी दृष्टि मे सब समस्याओ का समाधान अध्यात्म है। इनका अर्थ यह नही है कि रोटी की समस्या अध्यात्म के अभाव मे है और अध्यात्म के भाव मे वह सुलझ जाएगी। इसका अर्थ यह है कि अध्यात्म प्रखर हो तो रोटी समस्या नही बनती, जबकि अध्यात्म रोटी के लिए नही है। आचार्यश्री ने उद्देश्य की व्याख्या करते हुए लिखा है—अहिंसा किसलिए ? आत्म-शान्ति के लिए। हमारा घर साफ-सुथरा होगा तो पड़ौसी को उससे दुर्गन्ध नही मिलेगी। हम अहिंसक रहेंगे तो पड़ौसी को हमारी ओर से क्लेश नही होगा। पड़ौसी को दुर्गन्ध न आए इसलिए हम घर को साफ-सुथरा बनाए रखें, यही सही बात नही है। दूसरो को कष्ट न हो, इसलिए हम अहिंसक रहें—अहिंसा का सही मार्ग नही है। आत्मा का पतन न हो, इसलिए हिंसा न करें, यह है अहिंसा का सही मार्ग। कष्ट का बचाव तो स्वय हो जाता है।[1] विचार सचार-शील होता है। उसका प्रवाह अनेक दिशाओ मे एक समान बहता है। महात्मा भगवानदीन ने अध्यात्म की फल-मीमासा मे लिखा है—"यह कहकर मैं हिंसा को बढ़ावा नही दे रहा। मैं तो सिर्फ अहिंसा की हद बता रहा हूँ। सत्य, अहिंसा, अचौर्य, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य—इन सभी धर्मो का मैं पुजारी हूँ। मैं इन सब पर अमल भी करता हूँ, पर मैं यह मानने को तैयार नही कि इन धर्मो की मदद से किसी को स्वराज्य मिल सकता है या कोई आदमी मालदार हो सकता है, किसी तरह का शारीरिक सुख प्राप्त कर सकता है। इन धर्मो के पालन से तो केवल मानसिक सुख मिल सकता है और जो आत्मा मे विश्वास रखते हैं उनकी आत्मा को सुख प्राप्त हो सकता है। इसलिए यह समझना कि स्वराज्य हमारे अहिंसा धर्म पालन का नतीजा है, बहुत बड़ी भूल है।

मैं फिर दोबारा कहता हूँ कि मैं अहिंसा का निरादर नही कर रहा। मैं अहिंसा का पुजारी हूँ। मैं तो केवल यह कहना चाहता हूँ कि अहिंसा से जिस कर्म की आशा की जाती है, वह गलत है।[2]

उद्देश्य और परिणाम एक ही रेखा मे स्थित होते हैं। उद्देश्य के प्रतिकूल उस क्रिया का परिणाम नही होता और परिणाम के प्रतिकूल उसका उद्देश्य नही होता।

---

१. पथ और पाथेय, पृ० ७७-७८

२. सरिता अक १८

अध्यात्म और विज्ञान

आचार्यश्री कोरे गगन-विहारी नही हैं। वे धरती का स्पर्श करके ही कुछ कहते हैं। आज का युग पदार्थ-विज्ञान का युग है। अध्यात्म के साथ उसका सामजस्य है या नही ? इसकी चर्चा बहुत बार होती है। इस विषय मे आचार्यश्री का दृष्टिकोण यह है—विज्ञान और धर्म का ऐक्य नही है तो उनमे विरोध भी नही है। दोनो की दो दिशाए है—पदार्थ विश्लेषण और नई-नई वस्तुओ को प्रस्तुत करने की दिशा मे विज्ञान आगे बढता है, आन्तरिक विश्लेषण की दिशा मे धर्म की साधना चलती है।

पदार्थ-विश्लेषण के साथ-साथ आन्तरिक-विश्लेषण चले, यही दोनो के समन्वय का मार्ग है।

पदार्थ प्रयोग की स्थिति समाज का अनिवार्य अग बन गई। इसलिए मनुष्य उसकी उपेक्षा नही करता, किन्तु आत्म-प्रयोग के बिना वह उच्छृखल बन मानव समाज की उपेक्षा कर डालेगी, ऐसा लगता है।

इसलिए विज्ञान पर धर्म का नियन्त्रण आवश्यक है।[1]

पौद्गलिक विज्ञान और आत्म-विज्ञान दोनो मिलकर जीवन को पूर्ण बनाते हैं। पौद्गलिक विज्ञान दैहिक अपेक्षा से सबद्ध है। इसलिए उसकी उपेक्षा की नही जा सकती। आत्म-विज्ञान दैहिक अपेक्षा नही है, इसलिए उसकी उपेक्षा हो जाती है। इस लगडेपन की मीमासा मे आचार्यश्री ने लिखा है—"वर्तमान जीवन मे गति-रोध उत्पन्न हो रहा है। उसका कारण लगडापन है।

उपासना है, पर वासना को मिटाने का प्रयत्न नही। उपासना को मैं अना-वश्यक नही मानता। पर चरित्र-शुद्धि के बिना वह अपूर्ण है। सही बात यह है कि उपासना भी हो और चरित्र भी। दोनो का अपना-अपना स्थान है। भोजन की जगह भोजन है, पानी की जगह पानी। प्यास बुझाने के लिए भोजन नही किया जाता और भूख मिटाने के लिए पानी नही पिया जाता। दोनो आवश्यक हैं। शुद्धि के लिए चरित्र आवश्यक है और उसकी स्थिरता के लिए उपासना भी आवश्यक है। जीवन का गति-रोध तभी मिटेगा जब दोनो का साथ-साथ विकास होगा।

वैज्ञानिक विश्व की समृद्धि और दर्शन-सम्पदा की विपन्नता भी आज के जीवन का लगडापन है। विज्ञान बाहरी उपकरणों को बढा रहा है, किन्तु दर्शन की कमी आन्तरिक सम्पदा को न्यून बना रही है। विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ दर्शन की प्रगति का सन्तुलन रहे, यह आवश्यक है। जीवन का गतिरोध तभी मिटेगा, जब विज्ञान के साथ दर्शन का भी विकास होगा।"[2]

अध्यात्म और व्यक्ति

आचार्यश्री की दृष्टि मे परिवर्तन का मूल आधार व्यक्ति है। व्यक्ति से भिन्न

१ पथ और पाथेय, पृष्ठ ४८-४९

२ पथ और पाथेय, पृष्ठ ५१

समाज और समाज से भिन्न व्यक्ति नही है। विवशता उत्पन्न की जा सकती है, किन्तु हृदय-परिवर्तन की अनिवार्यता उत्पन्न नही की जा सकती, वह व्यक्ति मे ही सम्भव है। इसी दृष्टि से आचार्यश्री ने कहा है—"व्यक्ति-सुधार समाज-सुधार की रीढ है। मुझे समाज, जाति, देश या राष्ट्र के सुधार की चिन्ता नही। मुझे व्यक्ति-सुधार की चिन्ता है।"[1]

अध्यात्म और परिस्थिति

व्यक्ति जो अनाचारी बनता है, उसका हेतु उसकी अपनी दुर्बलता व दृष्टिदोष है। परिस्थिति भी उसमे निमित्त बनती है। नैतिकता के पुन-निर्माण की चर्चा मे आचार्यश्री ने अपना मत व्यक्त किया है—"मानव-समाज पूर्ण नैतिक या पूर्ण अनैतिक होता है इसमे मुझे विश्वास नही है। एक समय मे समाज नीति-प्रधान था। सच्चाई और प्रामाणिकता मे विश्वास था। नैतिकता को अव्यवहार्य या असम्भव नही कहा जाता था। आज सच्चाई मे श्रद्धा नही है। इसके अनेक कारण है। परिस्थितियो की जटिलता भी कम कारण नही है। कोई एक अहेतुक चोर बनता होगा। अधिकाशत जो चोर बनते है, वे परिस्थिति वश बनते हैं। परिस्थिति का निमित्त मिलता है, बुराई हावी हो जाती है। वस्तुओ के अभाव और महगाई ने सत्यनिष्ठा के आस-पास रहने वालो को घूस और चोर-बाजारी की ओर खीचा है।'[2]

भारतीय चिन्तन मे चार पुरुषार्थ के सिद्धान्त की चर्चा हुई है। अर्थ और काम ये दो एक कोटि के है। सामाजिक जीवन की भूमिका मे काम साध्य है, अर्थ उसका साधन है। धर्म और मोक्ष ये दो एक श्रेणीगत हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र मे मोक्ष साध्य है और धर्म उसका साधन है। आपने कहा—"सब प्रवृत्तियो का मूल काम है।" कार्लमार्क्स ने कहा—"सब परिवर्तनो का आधार अर्थ है।" दोनो सच हैं पर दोनो एकागी हैं। काम के लिए अर्थ और अर्थ के द्वारा काम—इस प्रकार दोनो एक दूसरे मे गुंथे हुए है। इस भूमिका तक धर्म का उदय ही नही होता। आर्थिक विषमता मिटाओ—यह इसी जगत् का घोष है। आध्यात्मिक जगत् का घोष है—"आर्थिक दासता मिटाओ।" आचार्यश्री की भाषा मे—"जीवन की अनिवार्य अपेक्षाए—रोटी, पानी, मकान, कपडा, दवाई आदि की पूर्ति के साधन आर्थिक-दासता नही है। आर्थिक-दासता वह है—जो अन्याय के द्वारा अर्थ-सग्रह किया जाए। पचास रुपया मासिक वेतन पाने वाला कहे कि घूस के बिना काम नही चलता, उसकी बात छोडिये, पर हजार रुपये मासिक वेतन पाने वाला भी घूस ले, यह क्या आर्थिक-दासता नही ? है एक करोडपति भी पदार्थों मे मिलावट करे और चोरबाजारी करे, यह क्या आर्थिक दासता नही है ? इसी को मैं अनुभवहीन गुलामी कहता हूँ, इसे मिटाना सर्वोपरि अपेक्षा है।[3]

---

१. शान्ति के पथ पर (दूसरी मजिल), पृष्ठ १५०

२ शान्ति के पथ पर (दूसरी मजिल), पृष्ठ ११-१०

३ शान्ति के पथ पर (दूसरी मजिल), पृष्ठ १४-१५

आचार्यश्री अध्यात्म में विश्वास करते हैं, इसलिए वे परिस्थिति को जय-पराजय का निमित्त मानते हैं, उपादान नहीं। व्यक्ति की विजय का मूल उसका अपना पुरुषार्थ है और उसकी पराजय भी अपने ही में निहित होती है। परिस्थिति से जूझने में अध्यात्मवादी का पुरुषार्थ निखरता है।

पद, यश और स्वार्थ भी परिस्थियां हैं। ये प्रगति के निमित्त भी बन सकते हैं, किन्तु ये जब व्याधि बन जाते हैं तब प्रगति का पथ अवरुद्ध हो जाता है। कन्हैयालाल मिश्र ने आचार्यश्री की एक वाणी पर लिखा है—"अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्त्तक संत तुलसी ने दो शब्दों में इस विकृति-प्राप्त का सुख न लेना और अप्राप्त की सतत चाह रखना—को जो चित्र दिया है, उसे हजार विद्वान् हजार-हजार पृष्ठों की हजार पुस्तकों में भी नहीं दे सकते। वे शब्द हैं—भूख और व्याधि। सन्त की वाणी है—"आज के मनुष्य को पद, यश और स्वार्थ की भूख नहीं, व्याधि लग गई है, जो बहुत कुछ बटोर लेने के बाद भी शान्त नहीं होती।

सन्त का दिशा-निर्देशन है कि हम पद, यश, स्वार्थ की भूख से उत्तेजित हों, व्याधि से पीड़ित नहीं।"[1]

सहअस्तित्व की नीति

आचार्यश्री की मनोवृत्ति में अहिंसा का आन्तरिक स्पर्श है। उनका मान--दण्ड बाह्य की अपेक्षा आन्तरिक अधिक है। वे अहिंसा और समता को सर्वत्र समर्थन देते हैं। वे राजनीति में कोई रस नहीं लेते पर उसकी गतिविधि से वे अपरिचित भी नहीं रहते। सहअस्तित्व, अनाक्रमण और अहिंसात्मक नीति का उन्होंने बड़ी दृढ़ता से समर्थन किया है। पिछले वर्षों में विश्व के बड़े-बड़े नायिकों ने पं० नेहरू की सक्रिय तटस्थ नीति की कटु आलोचनाएं कीं। उसे अदूरदर्शितापूर्ण एवं राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल बताया गया। उसे किंकर्त्तव्यविमूढ़ नेताओं के मस्तिष्क के कृत्रिम व्यायाम की उपज माना गया। किन्तु दूसरे ही दशक में लोग अनुभव करने लगे हैं कि सक्रिय तटस्थता बलहीन व्यक्ति का मिथ्या उपदेश नहीं है। अमरीका के परराष्ट्र मंत्री श्री डीन रस्क से जैसा कहा—अमरीका के नवयुवक नेता अब यह नहीं मानते कि जो हमारा साथी नहीं है, वह अनिवार्यतः हमारा शत्रु है। यह धारणा भी बहुत सम्मत होती जा रही है कि शस्त्रास्त्रों पर अधिक बल देकर अमरीका, रूस आदि ने भारी भूल की है। यह सब आवेश के कारण हुआ है। संतुलित मस्तिष्क से सोचा जाता तो शस्त्रों का इतना भीषण प्रवाह नहीं होता। आचार्यश्री आवेश को राजनीति की बहुत बड़ी दुर्बलता मानते हैं। गोआ की स्वतन्त्रता के प्रश्न को लेकर जब भारतीय लोग आवेश में थे, सत्याग्रह अपनी तीव्र गति पर था, उसी समय आचार्यश्री ने अपनी एक सम्मति दी थी—"गोआ के सत्याग्रह को लेकर आज देश में बहुत बड़ी हलचल मच गई है। जबसे भारत स्वतंत्र हुआ है तब से भारत की बस्तियां जैसे गोआ, पाण्डिचेरी

१. ज्ञानोदय, फरवरी, १९५९

आदि भी स्वतत्र होने के उत्सुक हैं। गत वर्ष से गोआ मे आन्दोलन चल रहा है। वहा के अधिकारी पुर्तगाली दमन नीति को काम मे ले रहे हैं। उससे उत्तेजित होकर भारत से सत्याग्रहियो के जत्थे जा रहे हैं। कल पन्द्रह अगस्त, स्वतन्त्रता-दिवस को हजारो व्यक्ति सत्याग्रह के लिए एकत्रित हो गये। पुर्तगाली पुलिस ने मशीनगनो से गोलिया चलाई। पैंतीस सत्याग्रही मरे। पचास घायल हुये। किसी प्रकार की हिंसात्मक प्रवृत्ति न करने वाले सत्याग्रहियो पर गोली जलाना सरासर अन्याय है।

इधर जनता भारतीय सरकार से फौजी कार्यवाही की माग कर रही है। इधर प० नेहरू जो दूसरे राष्ट्रो को अहिंसा, समझौता, मैत्रीपूर्ण व्यवहार और सह-अस्तित्व की सम्मति देते हैं, कैसे प्रथम प्रयोग मे ही शस्त्र प्रयोग करेंगे ? भारत की आज तक की प्रतिष्ठा नीतिमत्ता और अहिंसा के बल पर ही बनी हुई है, वह ऐसे कैसे खोई जा सकती है ? दूसरा प्रश्न यह भी है कि भारतीय लोग अपने अधिकार को भी कैसे छोड़ेंगे ? समस्या बडी जटिल है। एक ओर दमन और दूसरी ओर शान्त-सत्याग्रह ?

मेरा ख्याल है अभी इतनी उत्तेजना नहीं होती चाहिए। गोआ की स्वतन्त्रता कोई कठिन नही है। सभव है पुर्तगालियो को वह स्वय देनी पडे।"[1]

काग्रेस महासमिति के शान्तिपूर्ण निर्णय पर प्रसन्नता प्रगट करते हुए आचार्यश्री ने लिखा है—"काग्रेस महासमिति व नेहरू सरकार ने यह निर्णय किया है कि गोआ सत्याग्रह कतई बद किया जाये। यह सर्वथा अकल्पित किन्तु दूरदर्शितापूर्ण कार्य हुआ है, ऐसा लगा। इससे भारत के अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे जो ख्याति है वह सुरक्षित और सुदृढ बनेगी।[2]"

सघर्ष और शान्ति

जहा जीवन है, अनेकता है, वहा सघर्ष भी है। जहा सघर्ष है वहा शान्ति के प्रयत्न भी। आचार्यश्री ने समय-समय पर जनता को शान्ति के दिशा-सकेत दिये हैं। उनके अभिमत मे—अपने सुख, भोग और बडप्पन के लिए दूसरो के सुख, भोग और बडप्पन को लूटने की लालसा सघर्ष का बीज है।

सघर्ष का हेतु विविधता या भेद है। मनुष्यो मे रुचि, विचार और आचार का भेद होता है। चिन्तन की सहज धारा ऐसी होती है कि जैसा हम करें, वैसा ही सब करें। किन्तु रुचि भेद के कारण ऐसा नही होता। बस यही से सघर्ष उठ खडा होता है।[3] अधिकाश सघर्ष व्यक्ति या समाज के उन्माद से उत्पन्न होते हैं। हिन्दुस्तान मे प्रान्तो की पुनर्रचना हो रही थी। इधर बडे राष्ट्र छोटे राष्ट्रो पर दृष्टि गडाए बैठे थे। उस समय आचार्यश्री ने चेतावनी के स्वर मे कहा—"एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का शोषण करता है, उसके श्रम का अनुचित लाभ उठाना चाहता है, दूसरो को हीन समझ

---

१ वि० स० २०१२ प्रथम भादवा वदि १४, उज्जैन
२. वि० स० २०१२ दूसरा भादवा वदि १२ ,,
३ पथ और पाथेय, पृष्ठ १४

उन्हे तिरस्कृत करता है, यह वैयक्तिक उन्माद है।

एक राष्ट्र की प्रजा भी प्रान्त भेद के कारण आपस मे सदेहशील रहे, एक दूसरे को कुचलना या गिराना चाहे, यह उन्माद नही तो क्या है? प्रान्तो की नवरचना के प्रश्नो को लेकर परस्पर लडना, तुच्छ स्वार्थ के लिए देश के महान् हित मे बाधक बनना यह प्रादेशिक उन्माद है।

एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को दबाये रखना, हडप जाना चाहता है, यह राष्ट्रीय उन्माद है।

सभ्य, सुसकृत और शिक्षित लोग जाति और रग की भेद रेखाए खीच, मनुष्य को अपना शत्रु मान रहे है, यह जाति का उन्माद है।

पढे लिखे लोग अपढ व्यक्तियो से घृणा करते हैं, यह विद्या का उन्माद है।

ऐश्वर्यशाली लोग गरीबो को सदा तुच्छता की दृष्टि से देखना चाहते हैं, यह ऐश्वर्य का उन्माद है।

धर्म-रक्षा के बहाने, अहिंसा के नाम पर हिंसा और सत्य के नाम पर झूठ का जो व्यवहार चलता है, वह धार्मिक उन्माद है।

जाति-मद, विद्यामद और ऐश्वर्य के मद से आत्म-पतन के अतिरिक्त प्रतिहिंसा की भावना भी तीव्र होती है, सामाजिक विक्षोभ भी उत्पन्न होता है, इसलिए उन्माद हिंसा है।[1]

इसके परिणाम हैं—चिनगारी, ताप और सर्वनाश।[2]

विश्व-शान्ति के लिए यह अपेक्षा है कि—[3]

(१) युद्ध न हो।

(२) लालसाए सीमित हो।

(३) शोषण न हो।

विश्वशान्ति के लिए यह भी अपेक्षित है कि—अस्पृश्यता, हीनता, सन्देहशीलता, वैमनस्य, आक्रमण और मिथ्यावाद न बढे, उतनी सीमा तक जाति, प्रदेश, राष्ट्र और धर्म सम्प्रदायो का विलीनीकरण भी आवश्यक है।[4]

धर्म और जाति

आचार्यश्री धर्म और जाति को भिन्न दृष्टि से देखते रहे है। वे धर्म को वैयक्तिक दृष्टि से देखते हैं और जाति को सगठन की दृष्टि से। इस विषय मे उन्होने जो चिन्तन दिया है, वह सर्वथा नया नही है। पर उसमे उनका हृदय है, इसलिए वह मार्मिक अवश्य है। आचार्यश्री ने अपने अन्तर की तडप को इन शब्दो मे व्यक्त किया

---

१ पथ और पाथेय, पृष्ठ १५-१६
२ पथ और पाथेय, ,, १४
३ प्रवचन डायरी, १९५३ पृ० ३००
४. पथ और पाथेय, पृ० १००

है—"मेरे दिल मे यह वडी तडप है कि तेरापथ का सार्वजनिक रुप से प्रसार हो—सभी जातियो और सभी वर्गों मे एक रूप से प्रसार हो। यह कव सम्पन्न हो, मैं नही कह सकता ? इस कार्य मे समूचा साधु-समाज लगे तो यह काम वहुत आसानी से हो सकता है। साधु-साध्वियो के कुछ सिघाडे तो अच्छा काम करने योग्य हैं और करते भी हैं। पर कुछेक जो पुराने विचारो के हैं उनके दिमाग मे यह वात घुसी हुई है कि ओसवालो, अग्रवालो व पोरवालो के सिवा हमारा धर्म टिकाऊ नही होता। मैं समझता हूँ यह एक भ्रम है। धर्म सव जातियो मे टिक सकता है, यदि उचित प्रयत्न हो तो ? व्यक्तिगत योग्यता का अन्तर अवश्य रहता है।

मेरी दृष्टि मे जैन धर्म के ह्रास के अन्यान्य कारणो मे एक कारण यह भी है कि उसे जाति मे वाध दिया गया। मेरा हृदय कह रहा है—"धर्म को ज्यादा से ज्यादा व्यापक वनाना चाहिए, पर समूचे सघ मे इस भावना को भरने मे मैं सफल नही हुआ हूँ। हो सकता है मेरी भावना मे इतनी मजवूती न हो या अन्य कोई कारण हो ? पर धर्म व्यापक होना चाहिए, जाति के वन्धन से मुक्त होना चाहिए। इसकी अच्छाई मे मुझे रत्ती भर भी सन्देह नही है।"[1]

अप्रतिकार ही प्रतिकार

आचार्यश्री ने जीवन स्पर्शी विविध पक्षो का स्पर्श किया है। कहा जाता है

शमार्थं सर्व शास्त्राणि, विहितानि मनीषिभि.।
सएव सर्व शास्त्रज्ञ यस्य, शान्त सदामन ॥

शान्ति के लिए सव शास्त्रो की रचना हुई है, वह सव शास्त्रो का ज्ञाता है, जिसका मन शान्त है। शान्ति के लिए मानसिक सतुलन आवश्यक है। वह विरोध की स्थिति मे विगडता है। आचार्यश्री का जीवन सूत्र है—"अग्नि मे लकडी न डालना, उसे वुझाने का सर्व श्रेष्ठ प्रयास है। इसी तरह विरोध का प्रतिकार न करना उसे मिटाने की सर्वोत्तम पद्धति है।"[2]

नैतिक दायित्व

नैतिकता का विकास करना सवका धर्म है। कवि अपनी काव्य-शक्ति से जन-मानस मे नैतिकता की लहर दौडाए, सन्तो, आचार्यो और महन्तो को भी आज मन्दिरो और मट्ठो मे नही रहना है। वे जनता का मार्ग-दर्शन करें, नैतिक-विकास मे अपना-अपना योग दें।[3]

सत्य की दिशा मे

मैसूर मे दिसम्बर १९५२ को फिलोसोफीकल काग्रेस की आयोजना हो रही

---

[1] स २००९ चैत्र वदि १०, सदासर
[2] प्रवचन डायरी, १९५३, पृष्ठ २९०
[3] प्रवचन डायरी, १९५३, पृष्ठ २९१

थी। डा० राधाकृष्णन् उसका सभापतित्व कर रहे थे। उस अवसर पर आचार्यश्री ने कुछ मननीय विचार प्रस्तुत किये। उनमें एक यह है कि "निर्मीयमाण दार्शनिक साहित्य पर विचार होना चाहिए। प्रत्येक दर्शन के अधिकारी अपना-अपना दृष्टिकोण प्रकाश में लाए, यह मर्यादा से परे नहीं, दूसरों का दृष्टिकोण समझे बिना या आग्रह के कारण उसे विकृत बनाकर प्रकाश मे लाए, यह औचित्य की परिधि से परे है। लगभग इस अर्ध शताब्दी में अनेक दर्शनों को छूने वाली जो पुस्तकें लिखी गई हैं वे प्राय त्रुटिपूर्ण हैं। एक व्यक्ति का पूरा अधिकार एक या दो दर्शन पर हो सकता है। सब दर्शन पूरे न तो हृदयंगम हो सकते हैं और न उनका हार्द व्यक्त किया जा सकता है। इसलिए एक व्यक्ति अनेक दर्शनों पर लिखें यह अधिकारपूर्ण कार्य नहीं कहा जा सकता। इसमे केवल शब्द पकड़े जाते हैं, आत्मा नहीं पकड़ी जाती। अपने-अपने दर्शन के अधिकारी व्यक्तियों के लिखे लेखों की संकलना से एक ग्रंथ बने, वही वास्तव में यथार्थ संकलन हो सकता है।"[1]

युवक की भाषा

आचार्यश्री युवक-शक्ति मे बहुत विश्वास करते हैं। उसके लिए उनकी अपनी एक परिभाषा है। सही अर्थ में युवक वही है, जिसका मस्तिष्क बूढ़ा हो, पैर तरुण हो। इसीलिए वे कहते हैं—"सभी वृद्ध युवक बन जाएं और सभी युवक वृद्ध बन जाएं।[2] इसका हृदय यह है कि अनुभव और मति का समन्वय हो जाए। इसी समन्वय का नाम है—युवक।

युवक शक्ति का प्रयोग धैर्य पूर्वक होना चाहिए, प्रारम्भ बहुत छोटा चाहिए। प्रातः कालीन छाया बहुत विशाल होती है, पर वह क्रमशः सिमटती-सिमटती दुपहरी मे शेष हो जाती है। कार्यारम्भ का उत्साह ऐसा नहीं होना चाहिए। वह दुपहरी की छाया जैसा होना चाहिए। जो प्रारम्भ मे बहुत कृश किन्तु अन्त में व्यापक बन जाती है। यह शक्ति को सफलता का मन्त्र है।[3]

महिलाओं के लिए आदर्श

बहुत बार मनुष्य का लक्ष्य त्रुटिपूर्ण हो जाता है, उसे यदि सही दिशा न मिले तो वह भटकता ही रहता है। नेतृत्व के चरण हजार नहीं होते। वह रेलगाड़ी की भांति भारवाहक नहीं होता। वह केवल दिशा-सूचक होता है। आचार्यश्री ने सभी वर्गों का नेतृत्व किया है, दिशा-सूचन किया है। यह आवाज जब बल पकड़ मे ही थी कि महिलाओं को भी पुरुषों के बराबर अधिकार मिले, तब आचार्यश्री ने सुझाया—"बहिनों को पुरुषों की बराबरी या उनसे आगे बढ़ने की बात छोड़ देनी चाहिए। पुरुष ऐसे

---

१. शांति के पथ पर (दूसरी मंजिल), पृ० १०५-१०६
२. प्रवचन डायरी, १९५३ पृ० १५२
३. प्रवचन डायरी, १९५३ पृ० १२१

क्या आगे बढ गये हैं ? उन्होने कौन-सी ऐसी प्रगति की है जिसकी बराबरी की जाए ? पुरुष बहुत बातो मे स्त्रियो से पिछडे हुए हैं। वे स्त्रियो के लिए आदर्श नहीं हैं। आदर्श है आचार। बहिनो का लक्ष्य पुरुषो की बराबरी करना न हो। वे स्वतन्त्र रूप मे अपना विकास करने की बात सोचें।"[1]

पर्दा

आज समाज मे अनेक रूढिया हैं। वे सदा होती हैं। रूढि का अर्थ बुराई नही है। जो परम्परा स्थिर हो जाती है, उसी का नाम है रूढि। समाज के लिए परिवर्तन और स्थिति दोनो अपेक्षित होते हैं। किन्तु जो स्थिति देश-काल के परिवर्तन के साथ परिवर्तित होनी चाहिए, वह नही होती, तब वह कुरूढि हो जाती है। समाज मे अनेक कुरूढिया भी हैं।

पर्दा आज कुरूढि है। इस विषय मे आचार्यश्री ने काल-क्रम के अनुसार विभिन्न दृष्टिकोण उपस्थित किए हैं। आचार्यश्री ने कहा—"मैं इस विवाद मे नही पड़ता कि आप पर्दा रखें या न रखें। यह अपनी-अपनी इच्छा पर निर्भर है, पर इसके गुण-दोषो को बताना मेरा काम है।"[2]

पर्दा रखने का आखिर उद्देश्य क्या है ? यही न कि उससे लज्जा की सुरक्षा हो, पर लज्जा तो आखो मे रहती है।

डायरी का एक पृष्ठ है—"आज अणुव्रत-गोष्ठी थी। बहिनो की ओर से यह प्रश्न आया—'पर्दा हमे अच्छा नही लगता, पर करें क्या ? अब यह प्रश्न बार-बार सामने आता है, मुझे तो यह आवरण अच्छा नही लगता, पर शदियो की कमजोरी, पुरुषो की ज्यादती और वातावरण की निगूढता ने पुरुषो को जकड रखा है। बिना तीव्र प्रयत्न के यह हट नही सकता। एक ओर अणुव्रत-क्रान्त और दूसरी ओर यह बहिनो की कैद बहुत बडी विषमता है। मेरी भावना है कि अब इस प्रथा को जल्दी समाप्त किया जाए।"[3] यह चिन्तन कलकत्ता मे सक्रिय बना। अब बहुत स्पष्ट विचार प्रगट किये जाने लगे। आचार्यश्री ने वहा लिखा था —

"आज सवेरे प्रवचन पाण्डाल मे ओसवाल नव-युवक समिति द्वारा आयोजित एक कार्यक्रम मे प्रवचन हुआ। विषय था 'दहेज और पर्दा निवारण'। दहेज के बारे मे तो अणुव्रत-आन्दोलन का नियम है ही। पर पर्दा भी अब समाज मे एक बुराई के रूप मे है। अत उसके बारे मे भी प्रकाश डालना जरूरी हो गया।

मुझे तो बहिनो का यह पर्दा सचमुच विकास का अवरोधक, कायरता का पोषक और सकीर्णता का परिचायक लगता है। यह अज्ञान का द्योतक है। समाज की बहिनें जब तक इस बन्धन से मुक्त नही होगी तब तक हमारा काम अधूरा है। हा, यह जरूर

---

१. प्रवचन डायरी, १६५३ पृ० १२०

२ प्रवचन डायरी १६५३ पृ. १२०

३ वि० सं० २०१४, ज्येष्ठ वदि ५, लाडन

है कि एक गड्डे से निकलकर दूसरे मे गिरना उचित नही है। पर्दे को छोडकर विलास मे फसना ठीक नही है।[1]

विचार और संचार

आचार्यश्री का मानस-कान्त भी है और शान्त भी, गतिशील भी है और स्पष्ट भी है। वे जीवन की बडी बातो की चर्चा करते है, वहा उसके लघुतम को भी छूते है। कुछ लोग कहते है आचार्यश्री को सामाजिक और राजनीतिक प्रश्नो, समस्याओ और परिस्थितियो पर अपना अभिमत व्यक्त नही करना चाहिए। आचार्यश्री का अभिमत इससे भिन्न है। वे कहते है—"मैं हिंसा और असयम का विरोध करता हूँ, अहिंसा और संयम का समर्थन करता हूँ। इनसे स्पष्ट जितने प्रश्न है, समस्याए है, परिस्थितिया है उन सबके विषय मे मैं अपना अभिमत प्रकट कर सकता हूँ। सामाजिक रूढियो राजनीतिक महत्त्वकाक्षाओ, जाति और भाषा, मत विवादो तथा जीवन व्यवहारों पर आचार्यश्री ने जो विचार व्यक्त किए है, उन्होने जन-मानस मे सचार पाया है। विचार आचार मे परिणत हुआ है। यह इसलिए हुआ है कि आचार्यश्री व्यक्ति-सुधार मे विश्वास करते है। आचार्यश्री हृदय-परिवर्तन मे विश्वास करते है। आचार्यश्री अहिंसा और सयम मे विश्वास करते है। संयम की उर्वरा मे जो विचार बीज फूटते है वे अकुरित होते है, पुष्पित होते है और पल्लवित होते है।

: ६ :

नव उन्मेष और नई दिशाएं

परिस्थितिया आती हैं और अपना काम कर चली जाती हैं। वे अविरल बहती सरिताए हैं। कभी इनकी गति मथर और वेग कम होता है, कभी गति द्रुत और वेग प्रचुर। तटो पर खडे होकर देखने वाले बहुत होते हैं किन्तु वे विरल होते हैं, जो उनसे लाभ उठाते रहें।

जल-प्रपात से विद्युत मिल सकती है तो परिस्थितियो के प्रपात से आलोक क्यो नही मिल सकता ? चिन्तन की गहराई और भावना की ऊचाई हो तो अवश्य मिल सकता है।

आचार्यश्री को चिन्तन प्रिय है इसलिए आप अभिनव उन्मेष और नई दिशाए देते रहते हैं। आप प्रेरणाओ के अजस्र स्रोत हैं।

ब्रह्मचर्य का तेज

आचार्यश्री पहली बार[1] दिल्ली पधारे, तब गर्मी के दिन थे। साधुओ के वस्त्र पसीने से मैले हो रहे थे। विहार भी लम्बे हुए थे। गर्म पानी के लिए भी दूर-दूर जाना पडता था। परिस्थिति और वाहरी उपकरणो के कारण साधुओ की आकृतिया म्लान-सी लग रही थी। वहा पत्रकार सम्मेलन हुआ। बहुत बडी सख्या मे पत्र प्रतिनिधि उपस्थित हुए। उसे आश्चर्य माना गया।

आचार्यश्री ने अव्रत-अणुव्रत-आन्दोलन के कार्यक्रम पर वक्तव्य दिया। उससे वे लोग प्रभावित हुए। आचार्यश्री के व्यक्तित्व ने भी उन्हे आकृष्ट किया। फिर प्रश्नोत्तर चले। एक पत्रकार ने यह प्रश्न उपस्थित किया—"आपके मुख पर ओज है। किन्तु शेष साधुओ के मुह म्लान से हैं। उनकी आकृति पर कोई तेज नही है। क्या ब्रह्मचर्य का तेज ऐसा ही होता है ? प्रश्न बहुत नुकीला था और भुलावे मे डालने वाला भी। आचार्यश्री ने उत्तर मे कहा—"मैले कपडो के कारण ऐसा लग रहा है। मेरे कपडे धुले हुए है इसलिए यह अन्तर दीख रहा है।" परन्तु आचार्यश्री का मन प्रश्नो से भर गया। आपने इस विषय को चिन्तन के लिए प्रस्तुत किया। इस पर गहरा विचार-मथन चला। पहले वर्तमान को सामने रखकर देखा। कुछ ब्रह्मचारी और कुछ अब्रह्मचारी लोगो की आकृतियो की तुलना की। निष्कर्ष यही निकला कि आकृति की

---

१ स० २००७

चमक का सम्बन्ध स्वस्थ रक्त से है। ब्रह्मचारी सब स्वस्थ ही होते हैं, यह कोई नियम नही, वैसे यह भी नियम नही कि सब अब्रह्मचारी अस्वस्थ ही होते हैं। फिर अतीत के आलोक मे उसी विषय को पढा। उत्तराध्ययन, धम्मपद और महाभारत, जैन-बौद्ध और वैदिक तीनो धाराओ का एक ही मत मिला—मुनिकृश और धमनि-सन्तन (नाडियो के जाल जैसे होते हैं)। आचाराङ्ग मे यही मिला—प्रज्ञानवान मुनि की बाहे कृश होती है। प्रश्न व्याकरण मे ब्रह्मचारी को भस्म से ढकी अग्नि के समान बाहर से निस्तेज और भीतर तेजस्वी कहा है। कबीर ने इसे इस भाषा मे कहा है—"बाहर से तो कछुयन दीखे, अन्तर जल रही जोत।" आचार्य भिक्षु की वाणी मिली

> लुखो शरीर हुवै तपसीतणो, बले शरीर हुवै तेज रहित ।
> बले तपसी तणा लोही-मास ढीला हुवै, चलगत हुवै वैराग्य सहीत ॥

गाधीजी कहा करते थे—"दुर्बल शरीर मे बलवान आत्मा का निवास होता है।" इन सभी अनुभूत विचारो से हमारे निष्कर्ष को पुष्टि मिली और जटिल प्रश्न का सदा के लिए समाधान मिल गया।

जातिवाद

वि० स० २००२ मे मैंने एक पुस्तक लिखी। उसका नाम रखा—"आखें खोलो।" उसके चार अध्याय थे। उनमे एक अध्याय था—जातिवाद। भगवान् महावीर ने जाति-वाद को अतात्त्विक माना। उसका खण्डन किया, शताब्दियो तक वही अभिमत रहा। किन्तु इन पाच-सात शताब्दियो मे जैन जगत मे भी जातिवाद ने अपनी जडें जमा ली। उसके प्रति जो विद्रोह का स्वर था, वह दब गया। उसके सस्कार गहराई से रूढ हो गए।

मैंने वह पुस्तक आचार्यश्री को दिखाई। तीन अध्याय निस्सकोच भाव से सुनाए। जातिवाद का अध्याय दिखाते हुए तनिक सकोच हुआ। मैंने निवेदन किया—यह अध्याय मैंने लिखा तो है, पर कैसे रहेगा ?

आचार्यश्री—"क्यो ?"

मैं—"जन-साधारण मे चर्चा होगी।"

आचार्यश्री—"बात सही है, तब चर्चा से भय क्यो ?"

अभय की एक किरण मिली और सारा वातावरण जगमगा उठा। अब जाति-वाद की खुली आलोचना करना एक साधारण कार्य हो गया।

प्रार्थना

आधे शतक पहले आचार्य माणकगणी ने एक बार प्रार्थना चालू की थी। वह थोडे समय तक चली फिर बन्द हो गई। आचार्यश्री ने वि० स० २००१ मे उसे फिर से चालू किया। प्रारम्भ बीदासर मे हुआ। पहले "ॐ जय जय त्रिभुवन अभि-

नन्दन त्रिशलानन्दन तीर्थ पते" यह प्रार्थना गाई जाती। फिर जयपुर चातुर्मास[1] से—"महावीर प्रभु के चरणों मे श्रद्धा के कुसुम चढाए हम", यह प्रार्थना चालू हुई थी।

हिन्दी का स्पर्श

हमारा विहार-स्थल बीकानेर राज्य था। वहा हिन्दी से चिढ थी। स्वतन्त्रता आन्दोलन की प्रवृत्तियो पर अकुश था। और भी बहुत कुछ था। हम लोग भी सस्कृत या मारवाडी मे लिखते थे। हमारे साधु दूर-दूर देशो मे विहार करते थे। वि० स० २००० की बात है। कई साधुओ ने मुझे सुझाया कि मैं "पच्चीस बोल" की हिन्दी मे व्याख्या लिखू। मैंने सकोचवश उसे स्वीकार नही किया। बार-बार अनुरोध किया तो मैं उसे टाल नही सका। मैंने "जीव-अजीव" के नाम से उसकी व्याख्या लिख डाली। पर मन सकोच से भरा था, कही आचार्यश्री को इसका पता न लग जाए? आखिर एक दिन पता लग गया। उन दिनो बीकानेर राज्य की विधान सभा मे चम्पालालजी बाठिया ने "बाल-दीक्षा निरोधन" प्रस्ताव रखा था। उससे हम सहमत नही थे। हमारा दृष्टिकोण स्पष्ट करने के लिए कुछ निबन्ध लिखने आवश्यक हुए। आचार्यश्री ने शुभकरणजी दसानी के सामने चर्चा की। उन्होंने और-और लेखको के साथ मेरा नाम भी रख दिया। मैं हिन्दी मे कुछ लिखता हूँ, यह सुन आचार्यश्री को भी कुछ आश्चर्य हुआ।

मैंने "बाल-दीक्षा और हमारा दृष्टिकोण"—शीर्षक निबन्ध लिखा और उसे मैं शुभकरणजी को दिखा चुका था। सस्कृत से सीधा हिन्दी मे लिखने लगा था। हिन्दी सस्कृत बहुल थी, फिर भी शुभकरणजी ने मुझे प्रोत्साहित किया और मैं हिन्दी मे कविताए भी लिखने लगा। आचार्यश्री को यह सब अज्ञात था। शुभकरणजी ने एक ही शब्द मे सारी बात रख दी और मुझे जो सकोच था, वह सहज ही दूर हो गया। हिन्दी मे लिखने का पथ-प्रशस्त हो गया।

यह उल्लेख अप्रासगिक नही होगा कि शुभकरणजी दसानी ने विकास की अनेक दिशाओ मे अपना महत्त्वपूर्ण योग दिया है। वे सूझ-बूझ के धनी हैं। चिन्तन भी है और परामर्श देने की क्षमता भी है। कल्पना भी है और उसे आकार देने की अर्हता भी है। उन्होने अपनी अर्हता का प्रयोग गण-विकास के लिए बडी तन्मयता से किया है।

संस्कृत-साधना

आचार जीवन का स्वयम्भू पक्ष है। विचार भाषा के द्वारा प्रवहमान होता है। वह किसी एक ही भाषा मे बधा हुआ नही होता। अलग-अलग प्रदेशो मे पैदा हुए महापुरुषो ने अलग-अलग भाषाओ मे विचार गूथे। उनकी भाषाई-अनेकता विचारो

---

१ वि० स० २००६

की एकता मे निखर उठती है। इसलिए जैन आचार्यों ने भाषा को स्वतन्त्र मूल्य नही दिया। स्वतन्त्र मूल्य की अर्हता विचारो मे है। भाषा उनका वाहन है। जिस देश-काल मे जो उन्हे वहन करने की अधिक क्षमता रखे उसी मे उन्हे बिठाया जाए—यह अभिमत रहा है। इसकी ध्वनि एक पुराने श्लोक मे मिलती है

बालस्त्रीमन्द मूर्खाणा, नृणा चारित्र काक्षिणाम् ।
अनुग्रहार्थं तत्वज्ञैः, सिद्धान्तः प्राकृते कृतः ॥

जैनाचार्य सदा से ही जन-भाषा के साथ चले। उन्होने मागधी, महाराष्ट्री, तेलगू, तामिल, कन्नड, अपभ्रश आदि प्राकृत भाषाओ मे बहुत लिखा। जिनका जो विहार-क्षेत्र रहा उनने उसी की भाषा मे अपने विचार प्रवाहित किये। सस्कृत का महत्त्व बढा तो प्राकृत मे परिणाम की स्पर्धा करने वाला सस्कृत वाङ्मय रचा गया। विक्रम की शताब्दिया सस्कृत साहित्य मे जैन-ग्रन्थ रचना के इतिहास मे भरी पडी है। जैन वाङ्मय के मार्मिक अनुशीलन के लिए प्राकृत और सस्कृत दोनो भाषाए पढना आवश्यक हो गया है। वि० सोलहवी-सत्रहवी सदी तक जैन परम्परा का साहित्यक क्षेत्र प्रदीप्त रहा। फिर उसमे कुछ मन्दता छा गई। भाषा पर जो अधिकार था वह छिन-सा गया। कई सम्प्रदायो मे तो विछिन्न ही हो गया। सस्कृत व्याकरण पढना पाप जैसा माना जाने लगा। इस मान्यता का परिणाम तेरापथ को भी भुगतना पडा। वि० उन्नीसवी सदी मे आचार्य भिक्षु ने तेरापथ का प्रवर्तन किया। "सस्कृत पढना पाप है"—उनकी ऐसी मान्यता नही थी। फिर भी उनका युग जैन-शासन मे सस्कृत परम्परा के अपक्रमण का युग था। उनका अध्ययन-अध्यापन सस्कृत की विछिन्न परम्परा मे ही हुआ। इसलिए तेरापथ की प्रवर्तना के बाद भी वर्षो तक तेरापथ मे सस्कृत का बीज अकुरित नही हो सकता।

तेरापथ की प्रवर्त्तना के सौ वर्ष बाद सहजभाव से सस्कृत का बीज-वपन हुआ। श्री मज्जयाचार्य (तेरापथ के चतुर्थ आचार्य) ने एक सस्कृत विद्यार्थी से कुछ सुना, सीखा और धारा। ब्राह्मण विद्वान जैनो को सस्कृत पढाना अपने हित मे नही मानते थे। कभी-कभी जैनो को पढाना, साप को दूध पिलाना जैसी कट्टर धारणाए भी टपक पडती थी। यही कारण है कि उनकी कुशाग्रीय प्रतिभा को सस्कृत के मर्म-स्पर्श का अवसर नही मिल सका। उनके उत्तराधिकारी आचार्यश्री मघराजजी ने उसे कुछ सीखा, पर सामग्री के अभाव मे वह पनप नही सका।

वि० स० १९६४ की बात है। तेरापथ के सातवें आचार्य बीदासर (बीकानेर) मे थे। वहा के जागीरदार हुकुमसिहजी ने एक सस्कृत श्लोक भेजा। उसमे क्रिया (धातु रूप) गुप्त थी। उसका समाधान नही किया जा सका। वह उनके उत्तराधिकारी (तेरापथ के आठवें आचार्य) श्री कालूगणी को बहुत चुभा। उनकी मानसिक अधीरता सीमा पार कर गई। यह सहयोग का अभाव अभी नही मिटा। उनकी तडप ने एक व्यक्ति को ढूढ निकाला। उनका नाम था—प० घनश्यामदासजी। अनेक कठिनाइया झेलकर भी वे कालूगणी के सहयोगी बने। बत्तीस वर्ष की पक्की

अवस्था, आचार्य पद का उत्तरदायित्व। फिर भी वे बालक की-सी रट लगाते-लगाते हजारो श्लोक और वार्तिक शब्द-कोष (हेमचन्द्र का अभिधान-चिन्तामणि जिसके १५४२ श्लोक हैं) और व्याकरण (सारस्वत का पूर्वार्द्ध और सिद्धान्त चन्द्रिका का उत्तरार्द्ध) कठस्थ कर गए। सस्कृत का वह बीज अब अकुरित हो उठा। उन्होंने उसके पल्लवन की दिशा ढूढी। उसमे से एक सरल और सुबोध सस्कृत व्याकरण का उदय हुआ। एक दूसरे पण्डित रघुनन्दनजी शर्मा (आशुकविरत्न, आयुर्वेदाचार्य) की विनीत सेवाए भी उन्हे सुलभ हुई। इधर उन्होने अपने शिष्यो को इस ओर प्रोत्साहित किया। पुरस्कार, सात्विक-प्रलोभन और महान् भविष्य की कल्पनाए कार्यशील बनी। परिणाम-स्वरूप कई साधु सस्कृत-व्याकरण पर अधिकार पा गये। मुनिश्री चौथमलजी और प० रघुनन्दनजी के सयुक्त परिश्रम ने "महाव्याकरण श्री भिक्षु शब्दानुशासन" का निर्माण कर डाला। एक के बाद एक उसके अग बनते गए। कालूगणी के देखते-देखते वह प्राय साङ्गोपाङ्ग बन गया।

आचार्यश्री तुलसी का दीक्षा-सस्कार महा-व्याकरण के नव-निर्माण काल मे हुआ। निर्माण-काल सम्पन्न नही हुआ था इसलिए आपने पहले सिद्धान्त चन्द्रिका का पाठ-कण्ठ किया। उसकी साधनिका कालूगणी स्वय कराते। उन्हे समय नही होता तब प० घनश्यामदासजी कराते। वे शब्द-रूपो के पण्डित थे। अर्थ बताने तथा प्रयोग करने की क्षमता उनमे अत्यल्प थी। इससे आपको पूरा सन्तोष नही होता। कालूगणी ने इनके पास से सस्कृत कैसे सीखा ? यह प्रश्न भी टकरा जाता।

उन दिनो बीकानेर तथा जयपुर के कई कस्बो (चूरू, रतनगढ, राजगढ, फतेपुर) मे सस्कृत के अच्छे-अच्छे विद्वान् थे। वे सम्पर्क मे आते। विद्या देने को कुछ राजी होते। किन्तु "पय पान भुजङ्गाना, केवल विषवर्द्धनम्"—जैसी उक्तिया सुना उन्हे जैन साधुओ से दूर रहने को बाध्य किया जाता। फलस्वरूप किसी भी विद्वान् का सहयोग नही मिल सका। प० रघुनन्दनजी को भी जैन विरोधी तत्त्वो ने बहुत उभाडा। एक बार वे उनके जाल मे फस भी गए। पर आखिर उनका भावुक अन्त करण कालूगणी के सहज-सुलभ वात्सल्य से प्रभावित हुए बिना रह नही सका। उन्होने निष्काम विद्या-दान शुरू किया। पर यह सयोग भी निर्बाध नही था। उनका प्रधान कार्य चिकित्सा था। इसलिए गाव-गाव मे साधुओ के साथ-साथ घूमना उनके लिए सम्भव नही था और एक गाव मे स्थिरवास किए रहना आपके लिए असम्भव था। चतुर्मास के सिवाय शेष काल (आठ मास) तक पाद विहार रहता। इसी कारण उनका सहयोग स्वल्पकालीन होता।

सबसे बडी कठिनाई थी वैतनिक पण्डितो के पास न पढना, एक गाव मे स्थिर न रहना, वेतन देकर न पढना। ये साधु-जीवन के मौलिक नियम रहे और थे अनति-क्रमणीय। इस प्रकार आचार साधना मे तपी हुई तेरापथ परम्परा मे सस्कृत-पल्लवन का कार्य सरल नही था। वह कठोर तप तपने वाले व्यक्तित्व की प्रतीक्षा मे था।

अध्ययन की उमडी हुई लालसा ने आपको कल्पनाशील बना दिया। सकल्प का बल था पर उसकी पूर्ति का साधन नही मिल पा रहा था। 'सिन्दूर-प्रकट' जैसे

विद्यार्थी-गम्य शतक का अर्थ समझ लेना, अन्वय लगा लेना, बहुत बड़ी बात लगती थी। नव-निर्माण की बात दूर रही। पाठ्यक्रम का उचित परामर्श मिलना भी सुलभ नहीं था। इस स्थिति में कालूगणी ने आपके लिए एक मार्ग चुना, वह था ग्रंथों के कण्ठीकरण का। बड़ा ही रूखा, टेढ़ा और सिर पचाने वाला। पर गतिशील रुकना नहीं जानता। आप एक-एक कर ग्रंथों को कण्ठस्थ करने लगे। लगभग बीस-बाईस हजार ग्रंथाग्र (अनुष्ठप श्लोक परिमाण) कण्ठस्थ कर लिया। उनमें कई ग्रन्थ ऐसे हैं जो सदियों में भी किसी संस्कृत विद्यार्थी के कण्ठाभरण नहीं बने होंगे। आपने गण-रत्न-महोदधि और उणादि जैसे विरलरूपेण वाचनीय प्रकरण रटे और उनका पुनरा-वर्तन करते रहे। यह कार्य भी सरल नहीं था। प्रतियां सुलभ नहीं थीं। कई विद्वान् छपी हुई पुस्तकें देने को भी राजी नहीं होते थे। आप अपने हाथ से प्रति लिखते और उसे कण्ठस्थ करते। इस प्रकार आपका कालूगणी की चरण सेवा का एकादश वर्षीय सहवास लगभग व्याकरण के अध्ययन का ही रहा।

दर्शन शास्त्र के अध्ययन का सूत्रपात्र किया। आचार्य हरिभद्र का 'सद्दर्शन' कुछ पढ़ा। एक छोटा-सा काव्य भी रचा (आचार्य सिद्धसेन की अमर कृति 'कल्याण मन्दिर' के दूसरे चरण की समस्या पूर्तिरूप कालूगणी के गुणवर्णनमय), पर समय का अधिकांश भाग व्याकरण की चर्चा में ही बीता। इससे कई लाभ हुए। संस्कृत के मूल का स्थिरीकरण हो गया, जो पल्लवन की पहली शर्त है। आपने नव-निर्मित व्याकरण के परिमार्जन में भी हाथ बढ़ाया। हम विद्यार्थी मुमुक्षुओं को व्याकरण पढ़ने में सुविधा, व्यवस्था और परनिरपेक्षता मिली। आप अपने अध्ययन के साथ-साथ अध्यापन कराने लग गये थे। आपकी पाठन-पद्धति के प्रति हमारा आकर्षण था, पर यह सब व्याकरण तक ही सीमित रहा।

बाईस वर्ष की अवस्था में आप कालूगणी के उत्तराधिकारी (तेरापंथ के नौवें आचार्य बने)। एक विशाल सम्प्रदाय का दायित्व अपने गुरु से मिला। संस्कृत के पल्ल-वन का दायित्व आपने स्वयं ओढ़ा। पूज्य गुरुदेव का संकेत उसके साथ था। आपने साध्वियों को संस्कृत पढ़ने के लिए बहुत प्रोत्साहित किया। उनमें उसकी भावना और गति भी आ-गई।

आपने आचार्य बनते ही पहले पहल जैन आगमों का पारायण किया। उसके बाद जैन-काव्य (शांतिनाथ चरित्र, पद्मा-महाकाव्य आदि) पढ़े। उनका पढ़ना भी एक समस्या है। उन पर टीकाएं नहीं हैं। अध्येता को अपने श्रम से ही उनका हार्द पकड़ना होता है। आचार्यश्री ने उन्हें गहराई से पढ़ा और फिर परिषद् में उनका वाचन किया। यह प्रयत्न उच्चतम काव्य-साहित्य के अध्ययन की पहली आलोक रेखा थी। उसका पञ्जीकृत रूप महाकवि कालीदास के 'अविज्ञान-शाकुन्तल' और आचार्य हेमचन्द्र के 'काव्यानुशासन' के परिशीलन के साथ-साथ हुआ। यह तेरापंथ में संस्कृत अध्ययन की व्यवस्थित परम्परा का पच्चीसवां वर्ष था। इसके बीच जैन ग्रन्थों के प्रामा-णिक ग्रन्थों का अध्ययन भी प्रारम्भ हो चुका था। जैन-न्याय के लिए आपने वादी देव-सूरी का 'प्रमाण-नय तत्त्वालोक' चुना। लाक्षणिक ढंग का यह सुन्दर ग्रन्थ है। इस

पर 'स्याद्वाद रत्नाकर' नामक वृहतकाय स्वोपज्ञ टीका है। उसके आधार पर रत्नप्रभ सूरी की रची हुई 'स्याद्वाद रत्नावतारिका' नामक लघु टीका है। न्याय का विषय स्वयं जटिल है। टीका की भाषा उसे जटिलतम बनाए हुए है। विषय के हृदय पर भाषा के घना आवरण डाला हुआ है। तीसरी बात—न्याय-शास्त्र के क्षेत्र में यह पहला चरण था। सहयोगी बने पंडित रघुनन्दनजी, जिनका जैन न्याय से परिचय नहीं था। अध्ययन चला। दूसरे कुछ मुनि भी साथ थे। वे ग्रन्थ की कठोरता से घबडा से गए। उन्होंने सुझाया—पहले छोटा और सरल ग्रन्थ पढ़ा जाए, फिर इसका अध्ययन चले। आचार्यवर ने संकल्पपूर्वक कहा—"पैर चल पड़े तो मार्ग अपने आप मिलेगा। फिर वापस मुड़ना अच्छा नहीं।" उस अध्ययन में कठिनाई काफी रही, पर मंजिल तय हो गई। विषय गम्य बन गया। फिर तो जैन व जैनेतर न्याय के अनेक ग्रन्थों का पारायण किया। दर्शन और साहित्य के अध्ययन-पथ के प्रशस्तिकरण के साथ-साथ नव-निर्माण की ओर भी आपका ध्यान खिंचा। आपने स्वयं संस्कृत ग्रन्थ (कर्तव्य षट्त्रिंशिका, शिक्षा-षण्णवति, कथा-प्रदीप, जैन सिद्धान्त दीपिका, भिक्षु न्याय कर्णिका आदि) लिखे।

विद्या का कल्पतरु अनन्त-शाखी होता है। उसकी शाखा, प्रतिशाखा, पत्तों, कोंपलों फल और फूलों के अनुमापन की परिकल्पना भी नहीं की जा सकती। फिर भी नम्रता-पूर्वक इतना कहा जा सकता है कि आचार्यश्री ने अपने अथक परिश्रम से तेरापथ में संस्कृत को पल्लवित किया। अपने पूर्वज आचार्यों की भावना को मूर्त रूप दिया। वह उनकी सतत साधना और अटूट लगन का, संस्कृत जगत् के इतिहास में कभी भी नहीं भुलाया जाने वाला पृष्ठ होगा। परिणामस्वरूप विद्या की आराधना में आज तेरापथ की तपस्वी परम्परा स्वावलम्बी और स्वयम्भू है।

संस्कृत में वक्तव्य

वि० सं० २००२ का चातुर्मास श्रीडूंगरगढ़ में था। वहां काव्यानुशासन का वाचन पूर्ण हुआ। व्याकरण, न्याय-शास्त्र, काव्य आदि अनेक शास्त्रों का अध्ययन पूर्ण हो चुका था। आचार्यश्री को सन्तोष हो रहा था कि पूज्य कालूगणी की इच्छा फलवती हो रही है। आज वे होते तो उन्हें कितना हर्ष होता? रात का समय था। चांद अपनी चांदनी को बिछा रहा था। धरती उसकी आभा में खिल रही थी। साधु-गण, गुरु-वंदना में लीन था। उस समय मैं भी वंदना करने गया। आचार्यश्री ने कहा—"हमारी अध्ययन परम्परा को प्रारम्भ हुए २५ वर्ष हो गए हैं। हमने बहुत सारे विषयों को हस्त-गत करने का यत्न किया है। पूज्य गुरुदेव की असीम कृपा से हम सफल भी हुए हैं। किन्तु एक बात की कमी अखर रही है। अभी तक संस्कृत में प्रत्येक विषय पर घण्टों तक धाराप्रवाह भाषण करने का विकास नहीं हुआ है।

आचार्यश्री की इच्छा-शक्ति अथाह है। वह दूसरों में प्राण भर देती है। अगले प्रभात को हम लोग गांव के बाहर सुदूर एकान्त में बालू के ऊंचे-ऊंचे टीलों पर खड़े-खड़े संस्कृत में वक्तव्य कर रहे थे। सुनने वाला कोई नहीं था और कोई नहीं था मार्ग-

दर्शन देने वाला। केवल आचार्यश्री की प्रेरणा ही साथ थी। वह बुला रही थी और हम बोल रहे थे। एक महीने बाद आडसर मे सस्कृत भाषण प्रतियोगिता शुरू हुई। लगभग २० साधु उसमें भाग ले रहे थे। एक महीने तक भाषण दे और उसमे एक भी अशुद्धि न आए, उसे पुरस्कार देने की घोषणा की गई। सरदारशहर मे वह ग्यारह सौ गाथाओं का पुरस्कार मुझे मिला। आचार्यश्री के मन मे विचार उठा। वह उनकी इच्छा-शक्ति ने पूर्ण कर दिया।

आशुकवित्व

वि० स० २००० की बात है। आचार्यश्री उन दिनो भीनासर मे थे। मैंने और मुनिश्री नगराजजी ने एकाह्निक-शतक लिखे। आशुकवित्व की ओर यह पहला-चरण था। एक दिन मे नौ श्लोक लिखना उस समय आश्चर्य की बात थी। आचार्यश्री ने हमे पुरस्कृत किया। फिर अनेक शतक बने।[1] मुनिश्री महेन्द्रजी ने पञ्चशती और मुनिश्री राकेशजी ने एक दिन में एक हजार श्लोक भी बनाए।

राजलदेसर[2] मे मैंने और मुनिश्री बुद्धमल्लजी ने आचार्यश्री के समक्ष आशु-कवित्व के प्रयोग रूप में कुछ श्लोक रचे। अभ्यास हम पहले ही कर चुके थे। प० रघुनन्दनजी के आशुकवित्व की मूक प्रेरणा थी। आचार्यश्री श्री पण्डितजी के साथ आशु-कवित्व पर वार्तालाप चलाते थे। वह भी प्रेरक बना। आशुकवित्व करने का उत्साह बढ गया। आचार्यश्री ने हमे पुरस्कृत किया। यह धारा भी हमारे शासन की सम्पदा बन गई।

समस्या-पूर्ति

समस्यापूर्ति करने का अभ्यास कालूगणी के युग मे ही पक चुका था। आचार्यश्री तथा अनेक सत[3] कल्याण-मदिर व भक्तामर जैसे प्रसिद्ध स्तोत्रो की समस्यापूर्ति कर चुके थे। आचार्यश्री ने समस्यापूर्ति को फिर प्रोत्साहन दिया। कई वर्षो तक सर्दी के दिनो मे बहुत साधुओ के एकत्रित होने पर इसके आयोजन किये। हम लोगो, जो सस्कृत अध्ययन की दूसरी पीढी मे थे, के लिए वह कार्यक्रम बहुत ही लाभदायक रहा।

निबन्ध और कहानियां

साहित्य के विषय मे शुभकरणजी के परामर्श मिलते रहे और आचार्यश्री हमे प्रेरणा देते रहे। महीने मे एक सस्कृत-कथा लिखना हमारे लिए अनिवार्य कर दिया।

---

१. मुनिश्री धनराजजी (सरसा) छत्रमलजी, बुद्धमल्लजी, साध्वी मालूजी (डूगरगढ), मानकुवरजी, फूलकवरजी (लाडनू), सोहनाजी जतनकवरजी (उदयपुर)

२ वि० स० २००४

३ मुनिश्री कानमलजी, नथमलजी (बागोर) धनराजजी, सोहनलालजी (चूरू)

कुछ कथाएं लिखी, फिर प्रतिमास निबन्ध लिखना आवश्यक हुआ। निबन्ध प्रतियोगिता भी हुई। इस प्रकार सस्कृत मे लिखना, बोलना, कविताए करना साधुओ के लिए सहज हो गया। सस्कृतज्ञ मुनियो के साथ सस्कृत मे ही बोलने की साप्ताहिक, पाक्षिक प्रतिज्ञाए चलती। उस समय ऐसा वातावरण बना कि भाषा-जगत सस्कृतमय ही लगता। उसी वातावरण से प्रभावित हो महामहोपाध्याय गिरधर शर्मा ने कहा—"आचार्यश्री सस्कृत के जगम विश्वविद्यालय है।"

इच्छापूर्ति

पूज्य कालूगणी की अन्तिम इच्छा थी—"साध्वियो मे सस्कृत विद्या का यथेष्ट विकास किया जाय।" आचार्यश्री ने उस ओर ध्यान दिया। साध्वियो के अध्ययन यन मे अनेक कठिनाइया थी। उन्हे निरन्तर योग नही मिलता। फिर भी सतत प्रयत्न किया। आचार्यश्री स्वय उन्हे पढाते। कार्यव्यस्तता अधिक हो जाती, तब उनका अध्ययन रुक जाता। इस प्रकार गति और अवरोध होते-होते एक दिशा निश्चित हो गई। पच्चीस वर्ष की लम्बी अवधि मे पूज्य गुरुदेव की इच्छा-पूर्ति हुई है।

साहित्य साधना

आचार्यश्री उन व्यक्तियो मे से नही है, जो केवल अतीत की गाथा गाए, वर्तमान का कोई मूल्य न आके। वे आज को बलवान् बनाकर ही कल की ओर झाकते है। उनकी दृष्टि मे अतीत वर्तमान के लिए है, किन्तु वर्तमान अतीत के लिए नही है। प्राचीन जैन साहित्य बहुत समृद्ध है। किन्तु वर्तमान का जैन साहित्य दरिद्र रहे तो केवल पुराने साहित्य की समृद्धि के बल पर हम अपनी गौरवमयी मर्यादा को बनाये नही रख सकते। आचार्यश्री ने स्वय लिखा और लिखने की प्रेरणा दी। साहित्य की धारा बह चली। आज हमारा साधु-साध्वी समाज वर्तमान की साहित्य धारा का प्रतिनिधित्व करने मे पूर्ण समर्थ है। आचार्यश्री को इस स्थिति से सतोष है। आप बहुधा कहते है—"साधु-साध्वियो की साहित्यिक प्रगति देख मुझे सतोष है, पर पूर्ण नही।" वह पूर्ण होना भी नही चाहिए। उनके तोष की अपूर्णता मे से ही पूर्णता प्रगट होगी।

आगम साहित्य का सम्पादन

आचार्यश्री तुलसी महाराष्ट्र की यात्रा पर थे। पूना मे 'नारायण गाव' की ओर जाते हुए एक दिन का प्रवास 'मचर' मे हुआ। आचार्यश्री जहा ठहरे वहा मासिक पत्रो की फाइले पडी थी। साधुओ ने उन्हे देखा। गृहस्वामी की अनुमति ले पढने के लिए कई प्रतिया ली। कुछेक पत्र आचार्यश्री के पास रख दिए, कुछेक साधु ले गए।

साझ की वेला। लगभग छ बजे होगे। मै एक पत्र के किसी उपयोगी अश की जानकारी के लिए आचार्यश्री के पास गया। आचार्यश्री पत्रो को देख रहे थे। मैं पहुंचा

और आचार्यश्री ने 'धर्मदूत' की ओर सकेत करते हुए कहा—"यह देखा कि नही ?" मैने सविनय निवेदन किया—"नही, अभी नहीं देखा।" आचार्यश्री ने गभीर भाव से कहा—"इसमे बौद्ध साहित्य के सम्पादन की बहुत बडी योजना है। बौद्धो ने इस दिशा मे पहले ही बहुत किया है और अब भी वे सतर्क हैं। जैन लोग इधर-उधर के झगडो मे समय विताते हैं। मौलिक समस्याओ को बहुत कम छूते है। जैन साहित्य के पुनरुद्धार की आवश्यकता जैसी लगती ही नही। ऐसा जान पडता है।" आचार्यश्री की वह वाणी उभरी हुई अन्तर-वेदना-सी लगी। समय की अल्पता ने चर्चा को आगे नही बढने दिया।

रात्रिकालीन प्रार्थना के बाद आचार्यश्री ने अध्ययन करने वाले सतो को आह्वान किया। सत आए, वदना कर पक्तिबद्ध बैठ गए। आचार्यश्री ने सायकालीन चर्चा को छूते हुए कहा—"जैन साहित्य का कायाकल्प किया जाए, ऐसा सकल्प उठा है। उसकी पूर्ति के लिए कार्य करना होगा, पूर्ण श्रम करना होगा। बतलाओ कौन तैयार है ?" सारे हृदय एक साथ बोल उठे—"सब तैयार हैं।" आचार्यश्री ने सबकी भावनाओ को पकडते हुए कहा—"वह महान् कार्य है, उसके लिए पूर्व तैयारी भी बहुत बडी चाहिए। इसलिए अपनी-अपनी रुचि का विषय चुनो और उनमे प्रगति करो।" साहित्य सशोधन की सारी कल्पना विषय-चुनाव मे बदल गई। यात्रा चालू थी। विविध प्रसग और बहुविध कार्य सामने आते रहे। पर जो चुभन थी वह मिटी नही। जो कल्पना का उभार था, वह दबा नही। बातचीत के प्रसगो मे आचार्यश्री उसकी चर्चा करते रहे, हमारी भावना को गति देते रहे।

'सगमनेर' मे जैन उपाश्रय मे निवास था। रात को फिर प्रसग छिडा। आचार्यवर ने कहा—"श्रीचदजी रामपुरिया (मत्री—जैन श्वेताम्बर तेरापथी महासभा, कलकत्ता, सम्पादक—जैनभारती) जैनागमो के हिन्दी अनुवाद के लिए कई बार कहते रहे हैं। और-और व्यक्ति भी ऐसा चाहते हैं। मेरी स्वय की इच्छा भी है। पर एक ओर यात्रा, दूसरी ओर इतना गुरुतर कार्य। यह कैसे बने ?" आचार्यश्री के हृदय को स्पर्श करते हुए मैंने कहा—"यह कोई कठिन बात नहीं है। अगर आचार्यश्री का ध्यान अभी-अभी साहित्य-शोध का कार्य आरम्भ करने का हो तो निश्चिय हो जाना चाहिए। कार्यकर्त्ता स्वय पैदा होगे। सामग्री अपने आप जुटेगी। आपके सकल्प फलने मे सदेह नही है।" लम्बी चर्चा के उपरान्त आचार्यश्री ने अपना निर्णय वहा के सारे साधु-साध्वियो को बताने का निश्चय किया। दूसरे दिन दुपहरी मे आचार्यश्री की सेवा मे परिषद् हुई। साधु-साध्विया सभी उपस्थित थे। आचार्यश्री ने अपना हृदय स्पष्ट किया। गूढ और अभुनोत्पन्न सकल्प को सबके सामने रखा। साधु-साध्वियो की भावनाए प्रफुल्ल हो उठी। आचार्यश्री ने सबकी प्रफुल्लता को बटोरते हुए पूछा—"क्या इस सकल्प को अब निर्णय का रूप दे देना चाहिए। समलय से प्रार्थना का समस्वर निकला—"अवश्य, अवश्य।" कुछ देर के विचार-विमर्श के बाद सकल्प को औपचारिक निर्णय का रूप मिला। आचार्यश्री ने हर्ष-ध्वनि के बीच घोषित किया कि इन आने वाले पाच वर्षों मे जैनागम-शोध कार्य विचार-क्षेत्र मे सर्वोपरि साध्य रहेगा—ऐसा मेरा लक्ष्य है। और उसी के अनुसार साधु-साध्वियो को कार्य करना है। तेरापथ द्विशताब्दी महोत्सव के अवसर पर हमारा लक्ष्य

फलीभूत हो जाना चाहिए।"

आचार्यश्री 'औरंगाबाद' पधारे। साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका—चतुर्विध संघ की उपस्थिति में आचार्यश्री ने पूर्व निर्णय को फिर दोहराया। निर्देशानुसार कार्य-पद्धति की कुछ रेखाएं मैंने प्रस्तुत की। उल्लासपूर्ण वातावरण में कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। अब योजना का प्रसार हुआ। समूचा संघ लक्ष्य-बद्ध हो गया। दूर-दूर से कार्य निर्देशन की अज्ञात ध्वनि गूंजने लगी। सतत प्रवहमान यात्रा और पूर्व सामग्री की असम्भवता के कारण योजना को सक्रिय रूप नहीं मिल सका।

महाराष्ट्र की यात्रा पूरी हुई। 'धूलिया' में आचार्यश्री ने मध्यभारत की यात्रा का निर्णय दे दिया। चातुर्मास में एक महीना बाकी था। मध्यभारत की यात्रा शुरू हुई। 'महु' होते हुए 'इन्दौर' आगमन हुआ। चातुर्मास की प्रार्थना हुई। उज्जैन वालों का भी विशेष आग्रह था। वर्षा के दिन बहुत थोड़े बच रहे थे। आचार्यश्री ने उज्जैन में चातुर्मास बिताने का निश्चय किया। लोगों को बहुत अचरज हुआ। अच्छे-अच्छे लोगों ने कहा—यह क्या? आचार्यश्री 'इन्दौर' को छोड़ उज्जैन जा रहे हैं। ऐसा निर्णय क्यों हुआ? लगभग एक-दो दिन तक निर्णय पर पुनर्विचार करने की प्रार्थनाओं का तांता-सा बन्ध गया।

आचार्यश्री जनता की मांग का औचित्य समझते थे। पर निर्णय के पीछे भी बड़ा औचित्य था। जैनागम-शोध की योजना को कार्यरूप देना था। इन्दौर में समय की अल्पता होती। कार्य बहुलता की दृष्टि से उज्जैन अधिक उपयोगी जान पड़ा। आचार्यश्री 'देवास' होते हुए उज्जैन पधारे।

चातुर्मास शुरू हुआ। पुस्तकों की सामग्री जुटने लगी। स्थानीय पुस्तकालयों से हम पुस्तकें लाए। पुस्तकालयों की अव्यवस्था के कारण कुछ कठिनाइयां आईं। आखिर सामग्री जुट गई।

जेठ शुक्ला एकादशी की बात है। आचार्यश्री 'फागणे' में थे—'धूलिया' से दो कोस की दूरी पर। वहां श्रीचंदजी रामपुरिया दर्शन करने आए। साहित्य-संशोधन की चर्चा चली। उन्होंने सबसे पहले जैनागम शब्द-कोष तैयार करने का सुझाव रखा। आचार्यश्री को यह उचित लगा। आगमों का हिन्दी अनुवाद और शब्द-कोष ये—दो कार्य प्रारम्भणीय थे। पुस्तकें जुट जाने पर एक समस्या खड़ी हो गई। आगमों के हिन्दी अनुवाद के बारे में कोई विकल्प खड़ा नहीं हुआ। कोष-निर्माण की बात अब निर्विकल्प नहीं रही। चार शब्द-कोष सामने आए।

(१) राजेन्द्रसूरि का अभिधान राजेन्द्र।
(२) मुनि रत्नचन्द्रजी का अर्ध मागधी शब्द-कोष।
(३) जैनागम शब्द-संदोह, तथा
(४) हरगोविन्ददास भाई का पाइअ सद्द महण्णवो।

इन्हें देखा। इनके होते हुए फिर नये शब्द-कोष का निर्माण अनावश्यक लगने लगा। विचार आचार्यश्री के सामने रखा। चिन्तन चलता रहा। कोष-निर्माण का विचार छोड़ दिया जाए या उसे नया रूप दिया जाए। इस मन्थन से तत्त्व निकल

आया। आचार्यश्री के मार्ग-दर्शन से समस्या सुलझ गई। कोष-निर्माण का कार्य रुका नहीं। कई विशेषताओं को लिए हुए वह सुस्थिर बन गया। स्थिरता का संभाव्य रूप यह है :—

(१) पहले बने हुए कोषों में उद्धरण-स्थलों के एक, दो या कुछ-कुछ प्रमाण है। इस निर्मीयमाण कोष में उन सबके प्रमाण रहेंगे। एक शब्द आगमों में जितने स्थलों में प्रयुक्त हुआ है उसके उतने ही उद्धरण-स्थल निर्देश दिये जाएंगे।

(२) प्रत्येक सूत्र का शब्द-कोष उसी के साथ रहेगा। प्रत्येक सूत्र के शब्द कोष के साथ संस्कृत छाया रहेगी। इसलिए स्वतंत्र शब्द-कोष में उनके सभी शब्द नहीं लिए जाएंगे। उसमें पारिभाषिक या विशेष शब्द ही लिए जाएंगे। सामान्य प्रचलित शब्दों का संग्रह उसमें उपयोगी नहीं लगता।

(३) यह कोष कई वर्गो, सूत्रों और सूक्तों में विभक्त होगा। उनमें एक वर्ग पारिभाषिक या विशेष शब्दों का रहेगा। शेष शब्दों का विषयानुपात से वर्गीकरण किया जाएगा। उदाहरण स्वरूप व्यापार सम्बन्धी शब्द 'व्यापार वर्ग' में रहेंगे; अस्त्र-शस्त्र के शब्द 'शस्त्राशस्त्र शब्द' में। इस प्रकार एक विषय के शब्द एक ही वर्ग में समन्वित मिल सकेंगे। उनके आधार पर उनके प्रकरण भी सरलतापूर्वक खोजे जा सकेंगे।

(४) इसका एक विभाग विषयों के वर्गीकरण का होगा। यह शब्द-परक न होकर अर्थ-परक होगा। आगमों में जहां कहीं भी अहिंसा का प्रकरण है, उसका प्रमाण निर्देश या आधार-स्थलों का सूचन अहिसा सूक्त में मिल जायेगा। अहिंसा शब्द आया है या नहीं—इसकी अपेक्षा नहीं होगी। इनमें भावना का ही प्राधान्य होगा।

इस प्रकार इस कोष के तीन प्रमुख भाग होंगे :—

(१) पारिभाषिक (विशेष) शब्द-संग्रह।

(२) एक विषय के शब्दों का वर्गीकरण।

(३) विषयों का वर्गीकरण।

उद्धरण-स्थलों के सभी प्रमाण देने से कोष का कलेवर अवश्य बढ़ेगा। पर अन्वेषण की दृष्टि से वैसा होना बहुत ही उपयोगी है।

ये इस कोष की अपनी विशेषताएं हैं। इन्हीं के आधार पर इसका सर्जन सम्भव बन सका है।

हिन्दी अनुवाद

कोष-निर्माण के साथ दूसरा कार्य आगमों के हिन्दी अनुवाद का है। उसकी स्थूल रूप रेखा यूं है—

(१) प्रत्येक सूत्र की प्रामाणिक प्रस्तावना।

(२) शब्दार्थ।

(३) भावानुवाद।

(४) टिप्पण—शब्द मीमांसा, अर्थालोचन, विशेष विमर्श, पूर्वापर का अनुसन्धान, एक सूत्र का दूसरे सूत्र से अनुसन्धान।

(५) परिशिष्ट शब्द-कोष ।

यह कार्य अत्यन्त गम्भीर, अत्यन्त दुरूह और अत्यन्त उत्तरदायित्वपूर्ण है । इस कार्य-सम्पादन मे अनेक कठिनाईया है । सबसे बडी कठिनाई है—मूलपाठ के संशोधन की । संशोधन का अर्थ उनका परिवर्तन या नवीनीकरण नही, किन्तु उनके मौलिक रूप का पर्यन्वेषण है । लिपि-दोष, दृष्टि-दोष और स्मृति-दोष के कारण ऐसे पाठ-भेद आ गए हैं, जिनमे से मूलपाठ को ढूंढ निकालना सहज कार्य नही है । अभयदेव सूरी को टीका निर्माण मे बडी कठिनाईया महसूस हुई । उन्होंने उन्हे संकलित करते हुए लिखा है —

सत् सम्प्रदायहीनत्वात्, सद्दूहस्य वियोगत ।
सर्वस्वपरशास्त्राणा मदृष्टे रस्मृतेश्च मे ।।
वाचनाना मनेकत्वात्, पुस्तकाना मशुद्धित ।
सूत्राणा मतिगाम्भीर्याद्, मतभेदाच्च कुत्रचिद् ।।
क्षूणानि सम्भवन्तीह, केवल सुविवेकिभि ।
सिद्धान्तानुगतो योऽर्थ, सोऽस्माद् ग्राह्यो न चेतर ।।

(भग-प्रशस्ति श्लोक १-३)

आठ-सौ शताब्दी पहले भी प्रतियो की अशुद्धता की कठिनाई थी । अब तो वह और भी भयानक हुई है ।

उदाहरण स्वरूप नियमावलिका बहुप्रतियो मे

क¹ सुत्तमाणेहिं	(क) दहमाणेहिं	(क) उक्कुवमाणेहि
ख² भुत्तमाणेहिं	(ख) हृदमाणेहिं	(ख) उच्छूयमाणेहि
ग³ सुत्तमाणेहिं	(ग) नही है	(ग) उकुवमाणेहि

वाचना की अनेकता आदि आदि कठिनाईया भी गहरी हुई है । मध्यकाल मे अनेक आचार्य हुए हैं । उन्होने अनेक रहस्यो का उद्घाटन और विविध विचारो का स्थिरीकरण किया है । विविध परम्पराए चल पडी है । अर्थ भेद का तनाव भी कुछ कम नही है । ये सारी स्थितिया अपने आप मे जटिल है । सबसे बडी कठिनाई है—सत्सम्प्रदाय परम्परा का विच्छेद । परम्परा का मौलिक स्रोत उपलब्ध नही है । इसी-लिए अर्थ भेद की बहुलता है । सब सूत्रो का ठीक मौलिक आशय पकडना सरल नही है । आगमो का अर्थ गाभीर्य भी दुस्तर है । उनके मनन, चिन्तन और स्वाध्याय की भी चिन्तनीय कमी है । अर्थ-भेद या विचार-भेद का यह भी बहुत बडा हेतु है । टीका, टब्बे आदि आदि जो हैं वे भिन्न-भिन्न आचार्यों द्वारा लिखे गए हैं ।

इन⁴ सारी कठिनाईयो के होने पर भी संकल्प मे कोई शिथिलता नही आई । महावीर जयन्ती के दिन आचार्यश्री ने आगम-सम्पादन की योजना आत्म-बल के सहारे ही

---

१ आगमो य समिति द्वारा प्रकाशित
२ अभिधान राजेन्द्र
३ अमोलक ऋषि द्वारा अनुदित सूत्र प्रति
४ वि० स० २००१, औरंगाबाद

प्रस्तुत की थी। आपने कहा था—"आगमो की भाषा प्राकृत है। वह कभी जन-भाषा थी, पर अब नही है। मुझे आवश्यक लगता है कि आगमो का आज भी जन-भाषा हिन्दी मे अनुवाद किया जाए। आज हम इस गुरुत्तर भार को अपने कधो पर उठा रहे है। हमारे पास काम करने वाला कोई पडित नही है। यह सारा कार्य साधुओ के बलबूते पर ही हाथ मे लिया जा रहा है। किन्तु कोई गृहस्थ हमे सहयोग देगा, उसे अस्वीकार नही करेंगे।

आगमो का मूल्य अभी लोगो ने आका नही है। आगमो के प्रकाशन की दिशा मे पहला प्रयत्न जर्मन विद्वानों ने किया। दशवैकालिक का सर्वप्रथम प्रकाशन जर्मनी मे हुआ। ऐसा श्री श्रीचदजी रामपुरिया कह रहे थे।

हमारा जीवन आगम-निश्चित है। कहा जा सकता है—आगम हमारे लिए जीवन है। हम जीवित रहने के लिए अपना जीवन लगा देंगे। आचार्यश्री के इस पावन-सकल्प से कार्य का उद्घाटन हुआ और क्रमश गतिमान होता गया। वर्तमान मे उस कार्य मे मेरे अतिरिक्त मुनीश्री दुलीचन्दजी, मुनिश्री सुखलालजी, मुनिश्री श्रीचदजी और मुनिश्री दुलहराजजी सलग्न है। राजगृह मे जैन-सस्कृति सम्मेलन हुआ था।[1] उस समय आचार्यश्री ने पाच वर्षो मे आगम-पाठ सशोधन की घोषणा की थी। उस कार्य को मुनिश्री सुमेरमलजी (सुदर्शन), मुनिश्री मागीलालजी (मधुकर) और मुनिश्री हीरालालजी सम्पन्न कर रहे हैं।

इस कार्य मे मनीषीप्रवर मुनिश्री पुण्यविजयजी का भी समय-समय पर पर्याप्त सहयोग मिलता रहा है। श्रीचदजी रामपुरिया और मदनचन्दजी गोठी भी बडी तत्परता के साथ इस कार्य मे अपना योग दे रहे हैं।

शिक्षा-क्रम

आचार्यश्री का स्वभाव ग्रहणशील रहा है। वे जहा कही अच्छी प्रवृत्ति देखते है उसे निस्सकोच अपना लेते हैं। एक दिन[2] आचार्यश्री एक पत्रिका पढ रहे थे? उसमे रूस के शिक्षा-क्रम की जानकारी थी। आचार्यश्री के मन में सहज ही चिन्तन स्फुटित हुआ—अपने भी एक शिक्षा-क्रम होना चाहिए। आचार्यश्री ने उसी समय अपना मनोभाव जताया। थोडे दिनो बाद वह तैयार हो गया। उसका नाम रखा गया—आध्यात्मिक शिक्षा-क्रम। योग्य, योग्यता और योग्यतम ये तीन परीक्षाए रखी गई। वह बनने से अगले वर्ष ही हमारी शिक्षा-पद्धति का मान-दण्ड बन गया।

प्रथम बार परीक्षाए जयपुर मे हुई। उसमे लगभग ३०-३५ साधु-साध्विया बैठी। सस्कृत और प्राकृत पढने की क्षमता जिनमें कम हो, उनके लिए एक सैद्धान्तिक शिक्षा-क्रम तैयार हुआ। समय-समय की नई-नई प्रेरणाओ ने शिक्षा का क्षेत्र विस्तीर्ण बना दिया। आचार्यश्री मानते है—"यह सब पूज्य कालूगणी की दूरदर्शिता का परिणाम है।

१. स० २०१५
२ स० २००४, छापर

यदि उन्होने हमारी शिक्षा की ओर इतना ध्यान नही दिया होता तो आज हम इतनी दृढता के साथ युग का साथ नही दे पाते।" हमारा अभिमत यह है—"आचार्यश्री ने कालूगणी के सकेतो को विस्तार नही दिया होता तो हम इतनी दृढता के साथ युग का साथ नही दे पाते।"

जय ज्योति और प्रयास

साधु-साध्वियो की अभ्यास वृद्धि के लिए एक हस्तलिखित संस्कृत मासिक पत्रिका भी निकलती थी। जयाचार्य की पावन-स्मृति मे उसका नाम 'जय ज्योति' रखा गया था। तेरापथ मे संस्कृत का बीज-वपन उन्होने किया था। इस पत्रिका ने भाषा परिष्कार और विचार सवर्धन मे प्रशस्त योग दिया। इसका सम्पादन मुनिश्री महेन्द्रजी आदि करते थे। दूसरा संस्कृत पत्र निकाला 'प्रयास'। उसका सम्पादन मुनिश्री दुलहराजजी आदि करते थे। इस प्रकार बहुमुखी प्रवृत्तियो के द्वारा आचार्यश्री ने संस्कृत कल्पतरू को शतशाखी बना दिया।

जैन मुनियो के लिए प्राकृत का अध्ययन संस्कृत से कम महत्त्वपूर्ण नही है। उनके सभी आगम-सूत्रो की भाषा वही है। आचार्यश्री ने उसके अध्ययन को भी प्रोत्साहित किया। आप स्वय आचार्य हेमचन्द्र का प्राकृत व्याकरण पूज्य कालूगणी के समय मे ही पढ चुके थे। इस दिशा मे अब विशेष प्रयत्न हो रहा है। तेरापथ के बौद्धिक विकास मे आचार्यश्री का कर्तृत्व सदा सजीवित रहेगा।

अवधान

अवधान-विद्या चित्त की एकाग्रता और स्मृति का स्फूर्त चमत्कार है। जैन परम्परा मे यह दीर्घ काल से प्रचलित रही है। पहले धीरजलाल टी० सा० ने वि० स० १९९६ बीदासर मे आचार्यश्री के सामने अवधान के सौ प्रयोग प्रस्तुत किये। आचार्यश्री ने उस विद्या का सघ मे प्रवेश चाहा। मुनिश्री धनराजजी ने इस क्षेत्र मे पहल की। भिवानी महोत्सव (वि० स० २००७) के अवसर पर उन्होने आचार्यश्री के सम्मुख अवधान के प्रयोग किए। फिर यह विद्या अनेक साधु-साध्वियो द्वारा समादृत हुई। मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी और मुनिश्री श्रीचन्दजी ने इसके अनेक महत्त्वपूर्ण प्रयोग किये। मुनिराजकरणजी ने पाच सौ, मुनिश्री चम्पालालजी (सरदार शहर) धर्मचन्दजी ने एक हजार और मुनि श्री श्रीचन्दजी 'कमल' ने डेढ हजार तक एक साथ प्रयोग किए।

व्यवस्था मे परिवर्तन

हमारा सौभाग्य है कि हमे सुव्यवस्थित धर्म सघ मिला है। आचार्य भिक्षु महान् व्यवस्था दक्ष पुरुष थे। उन्होने जो व्यवस्थाए दी और सघ को जिस प्रकार सगठित किया, वह अनुपमेय है। उनकी मौलिक व्यवस्थाओ मे स्थिरता का महान् योग मे। किन्तु सामयिक व्यवस्थाए शीघ्र परिवर्तन मागती हैं। आचार्यश्री ने उनकी माग को समय-

तेरापथ द्विशताब्दी मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर और भी अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए।

आचार्यश्री की चिन्तन धारा एक ही दिशा मे प्रभावित नही हुई है। उसने जीवन की सभी दिशाओ का स्पर्श किया है। स्वास्थ्य के लिए आपने प्राकृत चिकित्सा, आसन-प्रयोग आदि अनेक प्रवृत्तिया शुरू की। साधु-साध्वियो की प्रारम्भिक शिक्षा के लिए आपने 'शैक्ष-शिक्षा' आदि ग्रन्थ रचे।

प्रारम्भिक धार्मिक शिक्षा के लिए 'धर्म बोध' लिखवाए। तत्त्वज्ञान के गम्भीर अध्ययन के लिए आपने जैन सिद्धान्त दीपिका, भिक्षुन्यायकर्णिका, आदि लिखे और अनेक ग्रथ अपने शिष्यो से लिखवाए। सह-स्वाध्याय, शिक्षण-शिविर, वाद-प्रतियोगिता आदि प्रवृत्तियो को प्रोत्साहित किया। प्रचार के क्षेत्र मे आचार्यश्री ने एक क्रान्ति कर डाली। जैन-धर्म और तेरापथ को युग का परम स्पृहणीय तत्त्व बना दिया। आप विद्यार्थियो, युवको, महिलाओ, शिक्षको, राज्य कर्मचारियो, हरिजनो के सम्मेलनो मे गए और अपने विचार उन्हे दिए। अणुव्रत-विचार परिषद्, दर्शन-गोष्ठी, साहित्य-गोष्ठी, कवि-गोष्ठी आदि विविध गोष्ठिया आयोजित हुई। उनमे अपने विचार दिए और दूसरे विद्वानो के विचार लिए। सुदीर्घ यात्राए की। आपने चरैवेति-चरैवेति के स्थान मे 'चरामीति-चरामीति' ही पढा।

साधना के क्षेत्र मे आपने विभिन्न प्रयोग किये। उनमे दस कुशल की साधना का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। उज्जैन[1] चातुर्मास मे इनका प्रयोग हुआ। आचार्यश्री ने उसका उल्लेख करते हुए लिखा है—"आज श्रावण वदि चतुर्दशी है। उपवास है। आज सवेरे मर्यादा का वाचन हुआ। उसके बाद साधु-साध्वियो की सम्मिलित सभा हुई। उसमे एक विशेष आयोजना साध्वादर्श को विकसित करने के लिए हमने रखी। उसमे साधना-कुशल साधु के दस आदर्श बतलाए गए, जैसे

(१) निर्जरार्थिता
(२) फलाशा-सयम
(३) खाद्य-सयम
(४) उपधि-सयम
(५) वाणी-सयम
(६) इन्द्रिय-मानस-सयम
(७) कष्ट-सहिष्णुता
(८) अभय
(९) पवित्रता
(१०) आनन्द

आचार्यश्री प्रश्न की भाषा मे बोलते—"कुशल साधक कौन है ?" हम लोग समवेत स्वर मे इनके उत्तरो को दुहराते, जैसे

---

१ वि० स० २०१२, उज्जैन

कुशल साधक कौन ? निज्ज रठिए—जो निर्जरार्थी है, परमार्थी है।
कुशल साधक कौन ? निरासय—जो फलाशा का सयम करता है।
कुशल साधक कौन ? मियासए—जो मित भोजी है।
कुशल साधक कौन ? अप्पोवही—जो अल्प उपकरण वाला है।
कुशल साधक कौन ? अप्पभासी—जो मितभासी है।
कुशल साधक कौन ? जिइन्दिए—जो जितेन्द्रिय है।
कुशल साधक कौन ? परिसह रिउदता—जो कष्ट सहिष्णु है।
कुशल साधक कौन ? अभए—जो अभय है।
कुशल साधक कौन ? निस्सगे—जो पवित्र है।
कुशल साधक कौन ? आणदघणे—जो आनन्द घन है।

इस योजना की अच्छी प्रतिक्रिया हुई। हम लोगो मे सामूहिक कार्य दीक्षाक्रम से होता है। उस चतुर्मास मे सामुदायिक कार्य स्वेच्छा से किए।

द्विशताब्दी के अवसर[1] पर आचार्यश्री ने साधना का दस-सूत्री कार्यक्रम उपस्थित किया। उसमें आसन, प्राणायाम, प्रति सलीनता, तप, रस, परित्याग, क्षमा आदि दस विध मुनि धर्मों का अभ्यास, पाच महाव्रत की पच्चीस व सोलह भावनाओ का अभ्यास जप, स्वाध्याय और ध्यान—ये नियम हैं।

आचार्यश्री का चिन्तन इस ओर स्फुरित होता है कि साधु सर्वप्रथम साधु ही रहे, साधना प्रवण ही रहे, फिर वह और-और बने। युग विचित्र है। पौद्गलिक उपकरणो की प्रधानता है। वे लुभावने भी हैं। बहुत लोग साधु-सस्थाओ के पक्ष मे नही हैं। वे साधुओ के वैराग्यको विनष्ट करने के यत्न मे रहते हैं। इन स्थितियो मे साधना का प्रबल भाव ही आलम्बन हो सकता है। इसीलिए आचार्यश्री उसे सर्वोपरि महत्त्व देते हैं। जैसे-जैसे अनुभव का परिपाक हुआ, वैसे-वैसे इस चिन्तन मे तीव्रता आई है।

साम्प्रदायिक मैत्री के लिए आचार्यश्री ने पाच व्रत उपस्थित किये और समय-समय पर सहयोग के लिए हाथ भी बढाया।

समाज के चरित्र-निर्माण की दिशा मे अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्त्तन किया, जो अपनी कोटि का महान् प्रयत्न है।

इस प्रकार आचार्यश्री ने अपने चिन्तन से अनेक दिशाओ को आलोकित किया है।

---

१ वि० स० २०१७, राजसमन्द

: ७ :

जीवन-दर्शन

अपूर्णता मे पूर्णता

जीवन की भाषा है—मान्यताओ, धारणाओ, सिद्धान्तो और विश्वासो की अभिव्यक्ति व क्रियान्विति। इस अभिव्यक्ति मे व्यक्ति के विचारो के दर्शन होते हैं और इस क्रियान्विति मे उसके जीवन के दर्शन होते हैं।

मान्यता और क्रियान्विति के मध्य मे व्यक्ति की दुर्बलता और प्रबलता, दैन्य और तेज, कठोरता और मृदुता आदि के अनेक उतार-चढाव होते हैं। उनमे से गुजरता हुआ व्यक्ति चहुँ ओर झाकता जाता है कि कहा क्या है और अपनी धारणा बनाता चलता है। यही है जीवन-दर्शन।

जैन-दर्शन हमे व्यक्ति को देखने की एक दृष्टि देता है, परखने की कसौटी देता है—जब तक व्यक्ति मे रागात्मक प्रवृत्तिया हैं तब तक उसे पहले मान्यताओ की दृष्टि से देखो फिर आचरणो की दृष्टि से। प्रारम्भ मे आचरणो की अपूर्णता मान्यताओ मे पूर्ण होती है। जब साधना है तब सिद्धि की दृष्टि से मत देखो। साधना की अपूर्णता सिद्धि मे पूर्ण होती है।

जीवन-दर्शन के प्रथम सोपान मे ही कुछ लोगो को निराशा का मुँह देखना पडता है और इसलिए कि उनकी पूर्णता की कल्पना मे जब अपूर्णता हाथ लगाती है। साप्ताहिक हिन्दुस्तान के सम्पादक बाके बिहारी भटनागर ने इसी प्रकार का एक अनुभव अकित किया है—

आचार्यश्री तुलसी के दर्शन लाभ से पहले मुझे दिल्ली मे अनेक जैन मुनियो से मिलने का अवसर प्राप्त हुआ था और जब-जब मैं उनसे मिला था, उनके गाम्भीर्य, उनकी विनयशीलता और उनकी सौम्यता ने मुझे बडा प्रभावित किया था। स्वभावत मुझे आशा थी कि इन मुनियो के आचार्य एक बहुत ही शात और स्थिर प्रकृति के अनुनयी तथा विचारशील महापुरुष होगे। किन्तु आचार्य तुलसी की प्रथम प्रतिक्रिया मुझ पर अधिक सुखद नही हुई। मुझे उनमे अपेक्षाकृत अधिक आवेग, अधिक आवेश और अधिक आक्रोप की भावना दिखाई दी और मैंने अपने पर निराशा का एक भार-सा अनुभव किया। किन्तु मेरी यह मन स्थिति अधिक समय तक टिकी न रही। अपने चित को झकझोर कर जब मैंने वस्तुस्थिति पर विचार करने की चेष्टा की तब मुझे स्वय अपनी ना समझी पर हँसी आई। आचार्य तुलसी आचार्य होने के नाते एक महान्

संघ के संचालक हैं। उन्हें स्वाध्याय और आध्यात्मिक चिंतन के अतिरिक्त संघ के संगठन, प्रचार और प्रगति की भी चिन्ता करनी पड़ती है। सैकड़ों साधु-साध्वियों के संयम-पूर्ण जीवन-यापन का उत्तरदायित्व उनके कंधों पर है और अपने सम्प्रदाय को रूढ़िवाद के पंक से बचाए रखकर आधुनिक तत्त्वों के निकट लाने के लिए सतत प्रयत्नशील रहना भी उनका ही कर्त्तव्य है। अतः उनके कार्य-कलाप में नैतिक आदर्शवाद के साथ व्यवहार कुशलता का समावेश अनिवार्य है यदि ऐसा न हो तो वह एक मिट्टी का घोंघा बनकर न रह जाएं ?"

आचार्यश्री की अपनी कल्पना में वे पूर्ण नहीं हैं। वे अपने को पूर्णता के पथ का पथिक मानते हैं। जैन भाषा में क्रियमाण को कृत कहा जा सकता है। पूर्णता के पथ पर जिसके चरण बढ़ते हैं, उसे पूर्ण कहा जा सकता है। जीवन का अर्थ ही है—इन्द्रिय, प्राण, मन और शरीर का समवाय। जो समवाय होता है, अनेक का एक समवेत रूप होता है, वह पूर्ण होता ही नहीं। आत्मा अनेक तत्त्वों का समवाय नहीं है, इसलिए वह स्वयं में परिपूर्ण है। जीवन और आत्मा के मध्य में जो पूर्णता होती है, वह स्वयं में अपूर्ण होती है किन्तु विविध मनोभावों व कृतियों के आलोक में उसका स्वरूप परिपूर्ण बन जाता है।

आस्था के विविध रूप

आचार्यश्री का व्यक्तित्व सफलताओं की वर्णमाला है। उसमें कोई विफलता नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। किन्तु सफलता ने विफलता को गौण बना दिया है। सफलता और विफलता हमारे प्रत्यक्ष होती है। उनके हेतु परोक्ष होते हैं। आचार्यश्री की सफलता के दो हेतु हैं—आस्था और पुरुषार्थ। आस्था के बिना पुरुषार्थ फलता नहीं, पुरुषार्थ के बिना आस्था स्थिर नहीं बनती। दोनों वैसे ही अविभक्त हैं जैसे मनुष्य का दायां और बायां पार्श्व। आचार्यश्री बम्बई में थे। विरोध अपनी तीव्र गति पर था। उस स्थिति में आचार्यश्री की आस्था ने अपने आपको इस रूप में देखा—"कुछ लोग प्रचुर विद्वेष फैलाने की चेष्टा में हैं। किन्तु मेरा आत्म-विश्वास अपने आत्म-बल व गुरु के प्रति एक-निष्ठ रहने में है। मेरी नीति साफ है। हृदय स्वच्छ है। स्व-प्रतिष्ठा की भावना नहीं सताती। जो कुछ करता हूं वह गण-हित व जन-हित के लिए करता हूं। फिर चिन्ता हृदय को क्यों छूए ?"[1]

आस्था अपने हृदय की पुण्य निधि है। वह सदा दृश्य नहीं होती। योग मिलने पर वह साकार हो जाती है। आस्था अपने हृदय का पुण्य-देवता है। उसमें सब देवों की शक्ति अर्जित है। जो उसकी आराधना कर पाता है, वह सब कुछ कर पाता है। जो उसकी आराधना किए बिना, अन्य देवों की उपासना करने वाला कभी नहीं कर पाता। वि० सं० २००९ की बात है। आचार्यश्री उन दिनों आन्तरिक संघर्ष का

---

१. वि० सं० २०११ श्रावण वदि १४

सामना कर रहे थे। उसी स्थिति का एक चित्र है—"मंत्री मुनि की असाधारण भक्ति का ही यह फल है कि सरदारशहर मे मर्यादा-महोत्सव, चातुर्मास और फिर मर्यादा-महोत्सव तीनो सलग्न हुए। इसमे कुछ लोग नई-नई कल्पनाए कर रहे हैं। कुछ कहते हैं—बहुत बडा परिवर्तन सम्भावित है। उसे मन्त्रीजी के सहारे हल करना चाहते हैं। इस प्रकार अनेक कल्पनाए है। पर मैं इन सबका उत्तर कार्यरूप से ही देना चाहता हूँ। मुझे आचार्यवर कालूगणी पर पूर्ण आस्था है, पूरा भरोसा है। मैं मानता हूँ कि लोगो की कल्पना, कल्पना ही रह जाएगी।"[1] लोग सोच रहे थे—आचार्यश्री जो चरण बढा रहे हैं उनसे सघ सन्तुष्ट नही है। इस महोत्सव के अवसर पर कोई बडा विद्रोह होगा। वातावरण भी ऐसा-सा बना दिया गया था। आचार्यश्री ने अहिंसा का प्रयोग किया। उनकी मृदुता ने वातावरण को इस प्रकार जीता कि उसे किसी प्रकार की पराजय की अनुभूति नही हुई। सम्भावित सकट टल गया।

आचार्यश्री अपने निर्णय मे अदृश्य शक्ति का भी बहुत बडा हाथ मानते हैं। सम्भव है मनोवैज्ञानिक की भाषा मे वह अवचेतन मन का कार्य हो। कुछ भी हो आस्था उस शक्ति को प्रस्फुटित अवश्य करती है, जो सामान्यत व्यक्ति मे नही होती। खानदेश और बँगलोर के लिए खिचावपूर्ण वातावरण बन गया। लम्बी चर्चा के बाद आचार्यश्री ने खानदेश विहार का निर्णय दिया। उसे आचार्यश्री ने इस भाषा मे लिखा है—"समूचा वातावरण दक्षिण के अनुकूल और खानदेश के प्रतिकूल बना हुआ है। जिस पर हमने खानदेश का निर्णय किया, वह बहुत ही आश्चर्यकारी लगा। दक्षिण-वासी लोगो की आन्तरिक वेदना को देखकर मेरा हृदय भी द्रवित हो गया। मैंने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव अनुकूल रहे तो दक्षिण मे आने का विचार है—यह आश्वासन भी दे दिया। इससे उनका हृदय प्रफुल्लित है। इधर खानदेश वाले भी सतुष्ट हो गए हैं। सब प्रसन्न हैं। इस निर्णय मे सुगनचन्दजी का सहयोग तो था ही, पर अप्रत्यक्ष सहयोग किसी दूसरी शक्ति का होगा। निस्सदेह ऐसा लगता है। अन्यथा सर्वाङ्ग, सम्पूर्ण, सर्व सन्तोषप्रद और जैसा होना चाहिए था, वैसा निर्णय केवल मेरी ही सूझ के बल पर हो, कम से कम मुझे सभव नही लगता। 'गुरुदेव शरण अस्तु'—इस वाक्य को मैं स्मृति मे लाता हूँ, लिखता हूँ, वही मेरी सजीवनी शक्ति है। उसी मे मैं कुछ यश पा लेता हूँ। कार्य प्रेरिका तो वही शक्ति है।"[2]

आचार्यश्री का सारा जीवन आस्था की धुरी पर चलता है। वे अपने लिए भी चिन्तित नही हैं। वे पुरुषार्थ मे विश्वास रखते हुए भी नियति की भाषा मे सोचते हैं। एक बार आचार्यश्री के मूत्राशय मे कुछ जलन-सी हो गई। आचार्यश्री ने उसे गहराई से लिया—"न जाने यह क्यो हुई है?" गर्मी मे विहार करने से, श्रम बहुलता से या प्रकृति के प्रकोप से? मैं नही समझ पाता, किन्तु गुरुदेव को मुझसे सेवाए लेनी है तो वे स्वय सोचेंगे। अगर प्रायश्चित्त कराना है तो वैसा होगा। मैं तो यही चाहता हूँ कि

---

१ वि० स० २००६, माघ वदि ७, सरदारशहर

२. २००१ वैसाख वदि ११, सोमवार

कष्टो मे मेरा मनोबल अत्यधिक दृढ रहे। "हो प्राण बलि प्रण पाने मे" यही भावना सफल बने।"[1]

कठिनाईया, विरोध, निराशाएं और विफलताए—ये एक एक कर ही व्यक्ति को परिवृत करती हैं, तब वह असतुलित-सा हो जाता है, तो उस समय की कौन जाने, जब ये समुदित होकर व्यक्ति को आक्रान्त करती हैं। ऐसा कौन है? जिसने इनका मुह नही देखा, इनकी पद-ध्वनि नही सुनी और ऐसा कौन है, जिसका इन्होंने स्पर्श नही किया। इधर तेरापथ के मन्तव्यो पर प्रहार किए जा रहे थे। उधर कुछ तेरापथी श्रावक और गण से पृथक् हुए साधु अपवाद फैला रहे थे। आन्तरिक सघर्ष तीव्र हो रहा था—चारो ओर निराशा के बादल मडरा रहे थे। उस समय आशा की किरण उस आस्था मे से ही फूट रही थी। उसी समय के उद्गार हैं—"गुरदेव के प्रति मेरे हृदय मे जो श्रद्धा है, उसका स्वय मैं भी वर्णन नही कर सकता। मैं जानता हूं मेरे मन मे जो भी विचार उद्भूत होते हैं, जो-जो कार्य होते हैं, वे मेरी प्रेरणा मे होते हैं। किन्तु उससे भी अधिक उनमे कोई अदृश्य प्रेरणा रहती है—ऐसा मेरा विश्वास है। किसी बात को लेकर मेरे मन मे निराशा होती है, वह मानसिक दौर्बल्य ही है, वरना मुझे यह मानकर ही चलना चाहिए कि जो होता है वह मेरे पक्ष मे लाभदायक ही होता है। यद्यपि अकर्मण्यता को मैं प्रश्रय नही देता, फिर भी गुरुदेव के प्रति मेरी श्रद्धा है, उसमे रत्ती भर भी कमी नही आती।"[2]

आचार्यश्री प्रारम्भ से ही श्रद्धा के वातावरण मे रहे है। इसलिए वह उनका सहज सस्कार है। श्रद्धा का पक्ष बहुत प्रबल है फिर भी उनका पुरुषार्थ-पक्ष निस्तेज नही है। कोरी श्रद्धा मे अकर्मण्यता की आशका रहती है तो कोरे पुरुषार्थ मे स्खलित होने का सकट रहता है। श्रद्धा और पुरुषार्थ दोनो का सहयोग विरले व्यक्ति मे ही मिलता है।

पुरुषार्थ और समय मर्यादा का द्वन्द्व

बहुत व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिनमे वीर्य नही होता। बहुत ऐसे भी होते हैं, जिनमे वीर्य होता है पर वे उसका प्रयोग नही करते। बहुत सारे प्रयोग करते हैं, पर उनकी दिशा सही नही होती, परिणाम कुछ नही होता। वीर्य हो, उसका प्रयोग हो और सही दिशा मे हो, तभी यथेष्ट की उपलब्धि होती है। आचार्यश्री का पुरुषार्थ साकार है। वह दर्शक को सहज ही खीच लेता है। आचार्यश्री की अभिनन्दना मे मैंने लिखा था

महापुरुष विश्वास तुम्हारे
जीवन का अन्तर-दर्शन है
घोर परिश्रम और तुम्हारे
जीवन का पहला स्पर्शन है।

---

१ स० २०१२ जेठ सुदी ६ मगलूर (खानदेश)

२ स० २०११ श्रावण वदि ६, बम्बई

शारीरिक आवश्यक कार्यों के सिवाय शेष समय जन-हित के लिए समर्पित करने की तीव्र भावना ने आचार्यश्री को बहुत व्यस्त बना दिया है। बहुत बोलना, बहुत चलना और बहुत करना—इस त्रिवेणी मे वे सदा नहाते हैं। कुछ लोग इतने श्रम का कोई उपयोग नही मानते। उनके कुछ शिष्य भी इस अतिश्रम के प्रति भिन्न दृष्टि रखते है। आचार्यश्री समय की व्यवस्था का पालन करना चाहते हैं, पर जहा सामने कार्य अधिक होता है, वहा उसे गौण भी कर देते है। उनका अपना अभिमत यह है कि "समय का नियमन होना चाहिए पर यत्रवत् नही होना चाहिए। इसमे कुछ कर्तृत्व का भाव है तो कुछ उपेक्षा का भाव भी है। उसका कही कही कटु अनुभव भी हो जाता है। आचार्यश्री ने उसे अपनी भाषा मे अकित किया है—"आज बम्बई के प्रसिद्ध महाविद्यालय एल्फेन्स्टिक मे प्रवचन का कार्यक्रम था। हम सिक्कानगर से चर्चगेट मे गजानन्दजी के मकान मे चले गए। वहा आहार कर प्रवचन करने चले। कुछ विलम्ब हो गया, समय अति क्रान्त हो गया। पन्द्रह मिनट बाद पहुँचे। कार्यक्रम अव्यवस्थित हो गया। बहुत जल्दी प्रवचन समाप्त करना पडा। श्रम और कार्य की तुलना की तो सहसा मेरे मुह से निकल पडा—"खोदा पहाड निकली चुहिया।" शाम को फिर पाच बजे सिक्कानगर पहुँचे।

आचार्यश्री बहुत बार अपना कार्यक्रम निश्चित करते है, पर कुछ ऐसी विवशताए भी है जिनसे वह स्थिर नहीं रह पाता। प्रवचन मे समय अधिक लग जाता है। आहार मे विलम्ब हो जाता है। आचार्यश्री को भूख नही सताती। वे ११-१२ बजे से पहले कुछ भी नहीं खाते। भूख पर उनकी विशेष विजय है। पर सब इतने विजेता नही है। छोटी अवस्था के साधु भी है। भूख को उन पर आक्रमण करते देख आचार्यश्री द्रवित हो जाते है और समय पर पूरा नियमन करते है।

कुछ दिन बाद दूसरे विशेष कार्यक्रम उपस्थित होते हैं। कार्य की लगन अपने पूर्ण रूप मे आती है। फिर समय की व्यवस्था मे परिवर्तन हो जाता है। इस प्रकार यह द्वन्द्व अपनी गति मे चलता रहता है।

अन्तर्द्वन्द्व

द्वन्द्व बाहर मे ही नहीं होता, चिन्तनशील व्यक्ति के मन मे भी द्वन्द्व होता है। वह कुछ करना चाहता है। जहा प्रवृत्ति की चाह होती है वहा परिस्थिति बनती है। उसमे कुछ स्पृहणीय होता है और कुछ अस्पृहणीय भी। व्यक्तित्व मृदु होता है, वहा अस्पृहणीय भी पलते रहते हैं। आचार्यश्री का व्यक्तित्व केवल मृदु नही है, किन्तु कालमान की तुलना मे कठोर कम है, मृदु अधिक। इसलिए वे बहुत बार अपने अन्तर्-द्वन्द्व को समाहित नही कर पाते। बम्बई का एक चित्र ऐसा ही है—"आज सवेरे[1] पेन-फ्रेन्ड-लीग की तरफ से भारतीय विद्याभवन मे एक आयोजन रखा गया। उसमे विश्व-शाति

---

१ स० २०११ कार्तिक सुदी १२, अहिंसा दिवस, बम्बई

की भावना पर विचार-मंथन हुआ। मंगलदास पकवाना, मगनदास, गोरधनदास, सुलोचना मोदी के वक्तव्यों के पश्चात् मेरा प्रवचन हुआ। उपस्थिति अच्छी थी, स्थान भी सुन्दर था, पर बिजली जल रही थी, पंखे चल रहे थे, फोटोग्राफर फोटो ले रहे थे, इस स्थिति में दिल फँसे ही हो रहा था। क्या किया जाए ? सार्वजनिक कार्यक्रमों में इन पर नियन्त्रण करना बड़ा कठिन हो रहा है। दिल कहता है कड़ाई के साथ इन पर नियन्त्रण कर दूं पर फिर सोचता हूं क्या यह सर्वथा नियन्त्रित हो जाएगा ? स्थिति को स्थिर नहीं कर पाता हूं, उलझन-सी रहती है।

जैन मुनि के लिए बिजली और पंखे का उपयोग वर्जित है। आचार्यश्री स्वयं उनका उपयोग नहीं करते। प्रवचन काल में गृहस्थ भी साधारणतः उनका उपयोग न करें यह अभिमत रहा है। उसी के आधार पर यह चिन्तन स्फुरित हुआ है।

आचार्यश्री बनारस[1] में थे। मध्याह्न की वेला थी। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी आये। भिक्षु जगदीश काश्यप को हमारे नव-निर्मित साहित्य से परिचित कराया जा रहा था। द्विवेदीजी भी मूक भाव से सुन रहे थे। अन्त में उन्होंने कहा—"मैं आपको केवल प्रचारक के रूप में ही जानता था। आपके इस निर्माणात्मक रूप से मैं सर्वथा अनभिज्ञ था। यदि यह परिचय होता तो मैं इससे पूर्व कई बार मिल चुका होता। यह अभ्यास उन्हीं का ही नहीं है, उन जैसे अनेक व्यक्तियों का है। आचार्यश्री प्रचार को अनावश्यक नहीं मानते किन्तु उनकी आत्मा प्रचारक ही नहीं है। कोरे प्रचार में उनकी निष्ठा भी नहीं है। आचार की समृद्धि के लिए ही उन्हें प्रचार इष्ट है। उनके मन में उठने वाले प्रश्न इसी सत्य की ओर इंगित करते हैं :

(१) जहां बिजली हो, पंखे चलते हों, वहां हमारा प्रवचन होना चाहिए या नहीं ?

(२) हमारी प्रचार-पद्धति, जो आज चालू है, में परिवर्तन होना चाहिए या नहीं ?

(३) फोटो के सम्बन्ध में हमारी नीति स्पष्ट होनी चाहिए।

(४) पोस्टर आदि भी क्या इतने अधिक होने चाहिए।

(५) आध्यात्मिक कार्यक्रमों का उद्घाटन अन्य लोगों से करवाना चाहिए या नहीं ?

इनकी क्रियान्विति में अवश्य ही कहीं-कहीं मृदुता बाधक बनी है। किन्तु यह सच्चाई है कि आचार्यश्री ने प्रचार के साधनों की शुद्धि को अत्यन्त महत्त्व दिया है।

आत्मालोचन

करणीय और अकरणीय की सकरी पगडंडी पर चलने वाला कोई भी व्यक्ति अन्तर-द्वन्द्व से मुक्त नहीं हो सकता ? आखिर व्यक्ति का विवेक ही उसे मुक्ति देता है। आचार्यश्री ने एक ऐसा ही मनोमंथन प्रस्तुत किया है—"आज सवेरे जब जागकर

१. वि० सं० २०१५

उठा तब विचारो मे उथल-पुथल-सी थी। तेरापथ द्विशताब्दी का बडे पैमाने पर कार्य प्रारम्भ कर दिया। साहित्य की विशाल योजना हमारे सामने है। श्रावक लोग भी एकमत से जुट गए। इसमे बहुत से काम गृहस्थो से सम्बन्धित और सावद्य भी होंगे। वे सबके सब हमारे सामने आये बिना रहते नही। जहा चिन्तन मे, भाषा मे कही-कही समिति-गुप्ति मे खडन भी सम्भव हो सकता है। ऐसी स्थिति मे साधु-सघ की सयम-साधना अक्षुण्ण रहे यह नितात एव अनिवार्य अपेक्षित है तो क्या करना चाहिए? आखिर समाधान यही मिला कि सब कामो मे तीखे उपयोग और विवेक की आवश्यकता है। सघपति के पास सघ की कोई स्थिति न आये, यह भी कैसे सम्भव हो सकता है? अत 'विवेगे धम्म माहिये' इसी पथ पर चलना होगा। न समाज के आवश्यक काम बन्द होगे और न हमारी साधना भी। चित्त को समाधान मिला। हा यह जरूर है कि भाषा समिति की गल्तिया अनेक बार हो जाती हैं। उनको प्रोत्साहन नही, वे खामी पेटे ही गिनी जाएगी।[1]

कुछ लोग सोचते हैं—"आचार्यश्री बाहरी चकाचौंध को पसन्द करते हैं।" उनका यह चिन्तन सर्वथा निराधार भी नही है। कभी-कभी ऐसी स्थिति बन जाती है, जिससे सहज ही यह अनुमान किया जा सकता है, किन्तु वस्तु स्थिति इससे भिन्न है। आचार्यश्री का अन्त करण बहुत निर्मल है। उनके आत्मालोचन मे कही-कही उसका प्रतिबिम्ब जो पडा है वह उस अनुमान की शल्य चिकित्सा कर डालता है। आचार्यश्री ने लिखा है—"आज मेरा १६वा महोत्सव-दिवस है। सवेरे ६ से १२ बजे तक मनाया गया। कविताओ व वक्तृताओ द्वारा अभिनन्दन किया गया। इसके उपलक्ष मे व्यापारिक जीवन-शुद्धि आन्दोलन शुरू किया गया। हिन्दुस्तान, अमरीका और बेलजियम के ईसाई नेता मुझे भाव-भीनी श्रद्धाजली दे रहे थे। मैं इन श्रद्धाजलियो के भार से दबा जा रहा था। मैं अपने आपको खोजने लगा कि मैंने कहां तक प्रगति की है? साधना पथ पर कितना आगे बढा हूँ? नाम और प्रतिष्ठा की भूख तो कही मुझे नही सता रही है? मौलिक आचार मे कही शैथिल्य तो नही है? पर-कल्याण या जन-कल्याण मे कही स्व-कल्याण ओझल तो नही हो रहा है? मेरा जीवन व्यक्तिगत जीवन नही है, यह समूचे सघ का जीवन है। मेरा जीवन स्वस्थ है तो सघ का जीवन स्वस्थ है। सघ का जीवन स्वस्थ है तो मेरा जीवन स्वस्थ है। सघ की समस्त गतिविधि का असर मेरे जीवन पर सीधा पडता है। मेरे जीवन की पवित्रता का असर समूचे सघ पर हुए बिना नही रह सकता। अत आज मुझे अपना आत्म-निरीक्षण बहुत गहराई से करना चाहिए।

हृदय साक्ष्य देता है कि छदमस्तता के कारण त्रुटि होना कोई बडी बात नही, पर गलती को गलती समझ कर उसे प्रश्रय देने के लिए वह तैयार नही है, ऐसा आत्म विश्वास है। यद्यपि दिल इतना मजबूत नही है इसीलिए-छुटपुट घटनाओ का आवश्यकता से अधिक उस पर असर हो जाता है। हीनता व महत्ता का भी उसी

---

१ ता० १६-६-५६, कलकत्ता

तरह अनुभव हो जाता है। पर पवित्रता को छोड़कर कहीं भी जाना नहीं चाहता। पिछले वर्ष से प्रगति हुई है। आशा है अगले वर्ष अच्छी सफलता मिलेगी ? गुरुदेवः शरण मस्तु।"[१]

आचार्यश्री तेरापंथ के सर्वाधिकार सम्पन्न शास्ता हैं। उसके विधान के अनुसार संघ-संचालन के सारे अधिकार आचार्य में निहित हैं। फिर भी आचार्यश्री में लोकतंत्रीय भावना का पूर्ण सामंजस्य है। उनकी साधना वृत्ति ने ही उन्हें स्थिति के प्रति समन्वयपूर्ण दृष्टि दी है। वे हठधर्मी नहीं हैं। प्रारम्भ में उनमें शास्ता का भाव अधिक था। अब उनमें गुरु का भाव अधिक है। शास्ता शासन के द्वारा दूसरों को नियंत्रित करता है और गुरु अपनी गुरुता से दूसरों को जीत लेता है। पहले में थोड़ी विवशता, दूसरे में हृदय-परिवर्तन। अपनी प्रवलता के मध्यान्ह में दुर्वलता का दर्शन करना सबसे बड़ी गुरुता है। वह आत्म-निरीक्षण और दूसरों के व्यक्तित्व के मूल्यांकन से ही सम्भव है। आचार्यश्री की इस गुरुता से बहुत लोग अभिज्ञ हैं। उनकी डायरी का एक पृष्ठ है—"व्यापक दृष्टिकोण से जो कार्य हो रहा है, वह मुझे बहुत ही उज्ज्वल भविष्य का सूचक लगता है। वह सबके लिए कल्याण का मार्ग है, फिर भी न जाने कुछ लोग, जिनमें कुछ साधु भी सम्मिलित हैं, क्यों सशंक हैं। पता नहीं, उन्हें क्या अनिष्ट की आशंका है ? उनके विचारों को सुन-देख कभी-कभी मैं भी सोचता हूँ—कहीं गलती तो नहीं हो रही है ? आत्म-निरीक्षण करना चाहिए, करता भी हूं। पर कुछेक कादाचित्क छद्मस्थता की भूलों के सिवाय मैं अपने आपको विश्वस्त व निस्संदेह पाता हूँ। दिल व दिमाग, मनोवल या आत्मवल यथेष्ट मजबूत न होने के कारण ऐसी व्यापक प्रवृत्ति से जितना आनन्द मिलना चाहिए, उतना तो नहीं मिल पाता। फिर भी ज्यों-ज्यों सुन्दर परिणाम सामने आते हैं, त्यों-त्यों विश्वास वढ़ता जाता है, मनोवल भी दृढ़ बनता जाता है। अन्ततोगत्वा 'गुरुदेव शरणम्'।"[२]

कभी-कभी यह आत्मालोचन बहुत ही प्रखर हुआ है। उसमें पद्मवत् निर्लेप की भारतीय कल्पना बहुत ही सजीव हुई है। कलकत्ता प्रवास की डायरी का एक पन्ना है—"मुझे कभी-कभी वड़ा भय लगता है, दुनिया की विचित्रता से। यह क्या हो रहा है ? संसार क्या है ? कहीं विकार, विलास, कामना, भोगों की भट्टी में जलना-अनवरत जलना, कहीं विराग, निग्रह, संयम, सत्य की साधना, कहीं इन दोनों का संगम।

मेरे कन्धों पर संघ के अनुशासन की पूरी जुम्मेवारी है। मेरी आत्मा जितनी अधिक उज्ज्वल होगी, शासन भी उतना ही समुज्ज्वल रहेगा। मेरी मानसिक स्थिति मुझे बहुत ऊंची नहीं लगती। साधना चल रही है, सिद्धि साधनानुसार होगी।"[३]

प्रायश्चित्त

साधनों की उपेक्षा वही कर सकता है जिसका मानस पाप-भीरू नहीं होता

---

१. सं०२०११ भाद्र सुदी ६, पट्टोत्सव, बम्बई
२. सं० २०१२ जेष्ठ सुदी ५, आमलनेर
३. सं० २०१४ आसोज सुदी ५

अनाचरण से सहज सकोचशील नही होता। आचार्यश्री का मानस धर्म से ओत-प्रोत है। धर्म-निष्ठ से कही कोई प्रमाद नही होता, यह बात जैन दृष्टि से सम्मत नही है, फिर भी यह निश्चित है कि उसका प्रसार प्रसरणशील नही होता। आलोचना और प्रायश्चित्त उसे जागरूक बनाये रखते है। अपने प्रमाद की स्वीकृति एक अल्पचेता के लिए गुरुतर और महाचेता के लिए अल्पतर कार्य होता है। आचार्यश्री अपने अन्तस्तल का जिस सहज ऋजुता से प्रक्षालन करते रहते है। वह सचमुच अल्पचेता जगत् को विस्मित करने वाला है।

आचार्यश्री ने एक प्रसग मे लिखा है—"मुझसे भाषा समिति व भावो की गलतिया कई बार हो जाती है। मैं बहुत महसूस भी करता हूँ। मन मे ग्लानि भी होती है, पर छद्मस्थता के कारण ऐसा हो जाता है। आशा तो यही है कि साधना अधिक विशुद्ध रहे और रहेगी भी।"[1]

वीतराग एक बार भी प्रमाद नही करता। यहा छद्मस्थ का अर्थ ही अवीत-राग है। अवीतराग होने का अर्थ यह तो नही कि वह प्रमाद करता ही जाए। किन्तु वह जानते हुए भी प्रमाद कर लेता है, उसकी पुनरावृत्ति भी कर लेता है। इसी का नाम है छद्मस्थता।

आज एकाशन है। आज मेरा मन खिन्न है, कारण कुछ मानसिक समस्याए है। मैं मेरी मानसिक दुर्बलता का स्पष्ट रूप से अनुभव कर रहा हूँ। अब विश्वास है हृदय करवट लेगा और कुछ मूर्त्त व स्फूर्त्त कार्यक्रम सामने आएगे। गुरुदेव की स्मृति सदा मेरी सह सगिनी रहेगी।"[2]

शक्ति का सही प्रयोग

जिसका अस्तित्व है वह कोई भी रिक्त नही है। सब अनन्त शक्ति के भडार है। पर कुछ लोग ऐसे होते है, जिन्हे अपनी शक्ति का भान ही नही होता। कुछ लोग ऐसे होते है जो प्रमादवश शक्ति का प्रयोग नही करते। कुछ लोग ऐसे होते है जो शक्ति का दुरुपयोग करते है, विरोध या प्रतिकार मे अपनी शक्ति खपा देते है। अपनी शक्ति का सही ढग से उपयोग करने वाले बहुत कम लोग होते है। आचार्यश्री इस ओर सदा सजग रहे है, कि हमारी शक्ति निर्माण मे लगे, विरोध मे न खपे। विरोध मे सतुलित रहना कोई साधारण बात नही है। सन्तुलन मे लाभ होता है, यह जानते हुए भी मनुष्य उसे तब खो बैठता है, जब सामने विरोधी परिस्थिति उत्पन्न होती है। पर स्थितात्मा वही होती है जो असतुलन की स्थिति मे सतुलन रखे। जोधपुर मे तेरापथ नाम-प्रतिष्ठा-पन समारोह मनाया जा रहा था। पडाल में लगभग ८-१० हजार व्यक्ति थे। शान्त वातावरण मे कार्यक्रम चल रहा था। इतने मे एक हो हल्ला-सा हुआ। लोग उठ खड़े हुए। पता चला कुछ स्थानकवासी युवक (जैन) जान बूझ कर ऐसा कर रहे हैं। आचार्यश्री ने उस समय ऐसा स्मित बिखेरा कि हल्का शान्त हो गया। दूसरी बार फिर

---

१ स० २०१० जेठ सुदी ५, नोखामण्डी

२ सीतापुर, आषाढ कृष्णा ८

हल्ला हुआ। आचार्यश्री ने कहा—"हमारे सामने बहुत बडा कार्य है। इस नगण्य घटना मे हम रस न ले।" दूसरे क्षण सब शान्त थे। हजारो व्यक्तियो ने शान्ति के सामने विरोध को क्षीण-बल होते देखा और देखा कि अविवेक-विवेक से पराभूत हो रहा था।

आचार्यश्री ने सौराष्ट्र मे साधु-साध्वियो को भेजा।[1] वहा स्थानकवासी बन्धुओ ने घोर विरोध किया। चूडा मे कुछ लोग तेरापथ के अनुयायी बने, उन्हे जाति बहिष्कृत किया गया। हमारे साधुओ के पास जाने वालो के साथ रोटी-बेटी का व्यवहार बद किया गया। 'वाव'—गुजरात मे जो व्यक्ति तेरापथ के अनुगामी बने, उनके लिए भी मन्दिर मार्गी जैनो द्वारा ऐसा ही किया गया। व्यावर मे आचार्यश्री ने मर्यादा-महोत्सव किया, उस समय स्थानकवासी बन्धुओ द्वारा स्थान-बहिष्कार किया गया, यह परम्परा बहुत पुरानी है। आचार्य भिक्षु के पास जाने वालो के लिए सामाजिक दण्ड का विधान था। मैं यह इसलिए नही बता रहा हूँ कि इन सम्प्रदायो के प्रति हमारा मन क्षुब्ध हो मैं यह इसलिए बता रहा हूँ कि हमने विरोधी वातावरण मे भी सहिष्णु और सतुलित रहने का वरदान पाया है। तेरापथ का छोटे से छोटा साधु भी इस परीक्षा मे उत्तीर्ण होता है। इस स्थिति मे आचार्यश्री तुलसी जैसे महामनीषी विरोधी वातावरण मे अनुद्विग्न रहे यह कोई विशेष अचरज की बात नही है।

विरोध के सामने झुका न जाए

उन दिनो मुनि श्री धासीरामजी डूगरमलजी और कुछ साध्वियो के सिंघाडे सौराष्ट्र मे थे। विरोध प्रबल था। चतुर्मास नजदीक था। स्थान नही मिल रहा था। यह चिन्तनीय हो रहा था कि चतुर्मास कहा हो ?

आचार्यश्री उन दिनो लाडनू मे थे। सौराष्ट्र से कई भाई आये। उन्होने वहा की स्थिति बतलाई। आचार्यश्री थोडे समय तक मौन रहे। फिर कहा—"यद्यपि वहा साधु-साध्वियो को स्थान और आहार-पानी की कठिनाइया झेलनी पड रही हैं फिर भी उन्हें घबडाना नही चाहिए। मुझे विश्वास है मेरे साधु-साध्विया घबडाने वाले नही हैं। उन्हें भिक्षु-स्वामी के आदर्श को सामने रखकर दृढता के साथ कठिनाईयो का सामना करना चाहिए। जैन-अजैन हिन्दू-मुस्लिम कोई भी स्थान दे, वहा रह जाए। और कोई स्थान न मिले तो श्मशान मे रह जाए। मूल बात यह है कि उन्हे वहा रहना है और अहिंसा मे विश्वास करने वाले विरोध के सामने घुटने नहीं टेकते। इसे प्रामाणित करना है।" आचार्यश्री की इस स्फूर्ति भरी वाणी ने श्रावको के खिन्न मन मे चैतन्य उडेल दिया। साधु-साध्वियो को भी बडी प्रेरणा मिली और वे अपने निश्चय पर अडिग रहे।

जिसे अपने आपमे विश्वास होता है, वह दूसरो मे विश्वास उत्पन्न कर सकता है। जहा विश्वास है वहा सब कुछ है।

रोष मे तोष

सौराष्ट्र से मास्टर रतीलाल भाई आये। आचार्यश्री ने पूछा—'कहिए, क्या

---

१ वि० सं० २००५

बात है? प्रचार कार्य ठीक चल रहा है ?" मास्टरजी,ने कहा—"ठीक चल रहा था। किन्तु विरोधी वातावरण के कारण उसकी गति कुछ धीमी हो चली है। साधु-साध्वियो को बडी कठिनाईया झेलनी पड रही है।" आचार्यश्री ने पूछा—"उनमे कोई घबरावट तो नही है ?" मास्टर—"नही, कतई नही।" आचार्यश्री—"अपनी ओर मे पूर्ण शान्ति रहनी चाहिए। अपना मार्ग शान्ति का है। विरोध का शमन विरोध से नही, शान्ति से ही होगा।"

मास्टर—"गुरुदेव! मैं इस धारणा को लेकर आया था कि वहा पहुँचते ही मुझे उलाहना मिलेगा। सौराष्ट्र मे साधु-साध्वियो के साथ जो व्यवहार हो रहा है, उसके कारण आपके मन मे अवश्य रोष होगा, किन्तु यहा आने पर मुझे कुछ और ही मिला—शान्ति का उपदेश और सौहार्द मिला।"

अहिंसा की उपासना मे जो चिन्तन होता है वह साधारण आदमी की कल्पना से बाहर होता है। आचार्यश्री की अहिंसा के प्रति जितनी आस्था है, उतनी सभवत किसी के प्रति नही है।

एक सूत्रता

आचार्यश्री उन दिनो अल्पाहार कर रहे थे। पार्श्ववर्ती साधुओ ने इसका कारण जानने का यत्न किया पर वह जाना नही जा सका। पूरे २४ दिन बीत गए। पच्चीसवें दिन इसका रहस्य खुला। सौराष्ट्र से समाचार मिला—लोगो की भावना में सहसा परिवर्तन आया है। बीकानेर और जोरावर नगर मे चतुर्मास के लिए स्थान मिल गया है। साध्वी रूपाजी को चूडा मे पहिले ही स्थान मिल चुका और सब व्यवस्था ठीक है।

आचार्यश्री ने सौराष्ट्र के साधु-साध्वियों की सराहना करते हुए कहा—"देखो, वे कितने साहस के साथ कष्ट झेल रहे हैं। हमे यहा बैठे-बैठे वैसा अवसर नही मिलता। वे यहा से दूर हैं फिर भी उनकी और हमारी आत्मानुभूति एक है। साधुओ ने मेरे अल्पाहार व विगय वर्जन के कारण जानने का प्रयत्न किया पर मैंने कुछ नही बताया। अब कठिनाई पार हो चुकी है और मेरा सकल्प भी पूर्ण हो गया है। आत्मीयता की गहरी अनुभूति ही देश काल की दूरी को मिटाती है और भिन्नता को एकता मे परिणित करती है।

उभरता व्यक्तित्व

जो बडे मे छोटा और छोटे में बडा हो, वह है व्यक्तित्व। जो स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म मे स्थूल हो, वह है व्यक्तित्व। व्यक्तित्व का कोई चित्र नही होता। वह अदृश्य होता है। मन के मुकुट मे प्रतिबिम्बित होकर ही वह दृश्य बनता है। व्यक्तित्व के लिए कोई तुला नही होती। वह अपने आप मे भारी नही होता। उसके गुरुत्व की अनुभूति दूसरो को ही होती है।

आचार्यश्री का व्यक्तित्व उन अणुओ मे बना है, जिनमे प्रतिविम्बित होने की क्षमता है। वे स्फटिक मे ही प्रतिविम्बित हुए है और उनमे भी प्रतिविम्बित हुए है, जो स्फटिक नही है। वे प्रकाश मे भी दृश्य है और वहा भी दृश्य है, जहा प्रकाश नही है। मैं उस दशा की बात करता हूँ, जब मैं और मेरे साथी स्फटिक नही थे। मैं उस समय की बात करता हूँ जब आचार्यश्री प्रकाश मे नही आये थे।

आपे का विस्तार

आचार्यश्री तब मुनि जीवन मे थे। सत्रह वर्ष की अवस्था होगी। आप पढते भी थे और हमे पढाते भी थे। हमारी पढने मे उतनी रुचि नही थी, जितनी आपकी हमे पढाने मे थी। इसीलिए हमे पढने मे कम समय लगाते और आप हमे पढाने मे अधिक समय लगाते। मुनिश्री चम्पालालजी को यह रुचा नही। एक बार उन्होने ने कहा—"तू अपने लिए बहुत कम समय लगाता है। तेरा अधिकाश समय दूसरो को पढाने मे ही बीत जाता है।"

आपने विनम्र स्वर मे कहा—"ये भी तो अपने ही है। आचार्यश्री की सफलता का रहस्य इस आपे का विस्तार है।" एक बार जैनेन्द्रकुमार कहा था—"आप हर किसी को अपना लेते है, इसलिए जो भी आपके पास आता है, वह आपका हो जाता है। हम लोग जब आपसे बातें करते है तब हमे गहरी आत्मीयता की अनुभूति होती है। इसी-लिए हम आपके लिए और आप हमारे लिए दूसरे नही रहे हैं।" आचार्यश्री का वर्तमान के आलोक मे चमकता व्यक्तित्व इसीलिए विराट् है कि उसे आत्मीयता के महाविलय परकीयता को विलीन करने का वरदान सहज प्राप्त है।

अनुशासन प्रियता

अनुशासन जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि है। उसमे रहना कठिन है तो उसमे दूसरो को रखना कठिनतर। मुनिश्री तुलसी वर्षों तक कठोर अनुशासन मे रहे। मुनीश्री चम्पालजी का स्वभाव कठोर था। वे अपनी रुचि के प्रतिकूल चलने वाले पर कभी अनुग्रह नही करते थे। उनमे भ्रातृत्व का स्नेह था। वे अपने छोटे भाई को महान् देखना चाहते थे। उनकी धारणा मे महानता की प्राप्ति अनुशासन से ही सम्भव थी। वे मुनिश्री तुलसी की प्रत्येक प्रवृत्ति पर पूरा नियन्त्रण रखते थे। मुनिश्री को नियन्त्रण मे रहने का पूरा अभ्यास हो गया था और आपने अपने विद्यार्थियो पर भी उसी का प्रयोग किया। मुनिश्री के पास पढने वालो मे—मैं और बुद्धमलजी दोनो छोटी अवस्था के थे। उस समय हम बारहवे वर्ष मे थे। अनुशासन भविष्य को सुनहला बनाता है। यह हम पूरा नही जानते थे और जानते भी थे तो समय पर भूल जाते थे। एक बार की बात है। प्रहर रात्रि होने को थी। पूज्य कालूगणी सोने की तैयारी मे थे। उसी समय हम दोनो वहा पहुँचे। वदना की और धीमे स्वर से कहा—"तुलसी स्वामी हम पर कडाई बहुत करते हैं।" आचार्यवर ने पूछा—"किस लिए ?" हमने कहा—"पढाने के लिए।" फिर पूछा—

"और किसीलिए तो कडाई नही करता ?" हमने कहा—"नही।" तव आचार्यवर ने कहा—"पढाने के लिए तो वह करेगा, इसमें तुम्हारी नही चलेगी।" हम अवाक् रह गए। आये थे आशा लिए, हाथ लगी निराशा। आचार्यवर ने कहानी सुनाई—"राजा के पुत्र के सिर पर अध्यापक ने अनाज की पोटली रख दी। पढाई समाप्त हुई। विद्यार्थी की परीक्षा के लिए अध्यापक राज-सभा मे जा रहा था। वीच मे अनाज की दुकान आई। गेहूँ खरीदे। उनकी पोटली वाधी और राजकुमार को उसे उठाने को कहा। वह अस्वीकार कैसे करता, पर वह दव गया भार से और लज्जा से। परीक्षा हुई। सव विषयो मे उत्तीर्ण हुआ। राजा वहुत प्रसन्न हुआ। अध्यापक से पूछा—"राजकुमार ने विद्यार्जन कैसे किया ?" अध्यापक—"वहुत अच्छे ढग से किया, विनयपूर्वक किया।" राजकुमार से पूछा—"गुरुजी ने तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया ?" राजकुमार—वारह वर्ष तक तो अच्छा किया पर आज ।" राजा—"आज फिर क्या हुआ ?" राजकुमार ने पोटली की वात सुनाई और राजा का चेहरा तमतमा उठा। पूछा तो उत्तर मिला, वह भी पढाई का एक अग था। वह पाठ राजकुमार को ही पढाना था। आगे चल कर दण्ड वही देगा। उठाने मे कितना कष्ट होता है, इसका भान हो गया है। अव यह किसी से अधिक भार नही उठवाएगा।" राजा के पास अव कहने के लिए कुछ नही था। आचार्यवर ने कहा—"अध्यापक राजकुमार से भी पोटली उठवा सकता है तव फिर . ..। हमारे पास भी वापस कहने को कुछ नही था। हम चले आए। मन मे और चिन्ता पैदा हो गई। मुनिश्री को पता चल जाएगा तो वे क्या कहेगे ? पढने को कैसे जाए ? सूर्योदय हुआ। श्लोक वाचन के लिए सकुचाते से गए और वाच कर विना कुछ उलाहना लिए आ गये। कई दिनो तक मन भय से भरा रहा, पर आपने हमे कभी भयभीत नही किया। आपको उस स्थिति का पता लग गया पर हमे यह पता नही लगने दिया कि आपको उस स्थिति का पता लग गया है।

अनुशासन एक कला है। उसका शिल्पी यह जानता है कि कव कहा जाए और कव सहा जाए ? सर्वत्र कहा ही जाए तो धागा टूट जाता है और सर्वत्र सहा ही जाए तो वह हाथ से छूट जाता है। इसलिए वह मर्यादा की रेखाओ को जानकर चलता है।

प्रतिज्ञा या वरदान

पूज्य कालूगणी जोधपुर मे चतुर्मास विता रहे थे।[1] उनके पट्टारोहण का दिन था। हम विद्यार्थी साधु भी कुछ वोलना चाहते थे। हमने मुनिश्री से प्रार्थना की और उन्होने हम सवके लिए श्लोक वना दिए। मुझे श्लोक पसन्द नही आये। मैंने कहा—"आपने दूसरे साधुओ के लिए श्लोक अच्छे वनाये हैं, मेरे श्लोक उन जैसे नही हैं।

आपने कहा—"तुम्हारे श्लोक अच्छे हैं।" मैं अपने आग्रह पर अडा रहा और आप मुझे समझाते रहे। आखिर मैं माना ही नही, तव आप वोले—"आज मे यह प्रतिज्ञा है

---

१ वि० स० १९९०

क भविष्य में फिर तुम्हारे लिए कभी श्लोक नहीं बनाऊंगा।" इस प्रतिज्ञा ने मेरे लिए कविता का द्वार खोल दिया। उस आग्रह पर मैं जब-जब सोचता हूँ तो मुझे मेरे बचपन तरस आता है और जब-जब मैं उस श्लोक को पढ़ता हूँ तो मुझे मेरे अज्ञान पर हँसी पर आती है। मैं मानता हूँ कि मुनिश्री ने मुझे जो निष्ठा का वरदान देना चाहा, उसे मैं समझ नहीं सका। मेरे न समझने पर भी उन्होंने वह वरदान मुझे दे दिया। तब मैं समझ सका कि श्लोक कितना मूल्यवान् है :

> तात के पुत्र अनेक हुवै पर नन्दन के पितु एक कहावै
> ज्यूं घन के बहु इच्छु हुवै पिण चातक तो चित्त मेघहि ध्यावै
> सागर के मच्छ कच्छ हुवै बहु मीन तो चित्त समुद्रही चावै
> त्यों गुरु के बहु शिष्य हुवै पिण एक गुरु नित शिष्य के भावै।

आचार्यश्री की आस्था ने इस प्रकार जाने अनजाने अनेक आस्था-दीप जलाए हैं।

व्यक्तित्व का उपयोग

दुनिया स्वार्थी है। वह उसी का व्यक्तित्व स्वीकार करती है, जिसके जीवन का उसके लिए उपयोग हो। जिसमें उच्च-प्रतिभा, चरित्र-बल और आकर्षण नहीं होता, वह अपने जीवन पुष्प को उपभोग के धागे से नही जोड़ सकता। इसलिए हमें व्यक्तित्व का फलित अर्थ करना चाहिए—प्रतिभा, चरित्र और आकर्षण की असाधारणता।

आचार्यश्री तुलसी का व्यक्तित्व जो बहुत वर्षों तक अपने आप में समाये रहा, निखरता जा रहा है। सब क्षेत्रों में उसके प्रति पूजा, प्रतिष्ठा और सम्मान की भावना है। पर क्यों है ? इस पर भी एक सरसरी दृष्टि डाल लेनी चाहिए।

आप के सन्त हैं, आचार्य हैं, आध्यात्मिक क्रान्ति के वाहक नेता और अहिंसक समाज के अग्रणी हैं। हमें उनका व्यक्तित्व स्वीकार करने से पहले मुड़कर देखना होगा कि क्या इस भौतिक युग में आपके जीवन का कुछ उपयोग है ? क्या विद्युत् यन्त्रों की चका-चौंध में अध्यात्म की किरणें कुछ कर सकेंगी ? इसका उत्तर देना कठिन है, यह नहीं मानना चाहिए।

परिस्थितियों के उतार-चढ़ाव में रथ का पहिया किधर घूमेगा, यह कौन जान सकता है ?

आचार्यश्री ने जनता के जीवन शोधन के लिए चरित्र का आश्रयण नहीं किया है। आपके सहज जीवन-शोधन से जनता को उसकी प्रेरणा मिली है। इसीलिए यह परमार्थ की भूमिका में रहकर भी जन-जीवन को जगाने वाला महामंत्र है। अन्न, वस्त्र, मकान आदि सुलभ करने वाला ही जनता के लिए उपयोगी है, यह मानना उतनी बड़ी वज्र भूल है, जितनी कि एक वज्र मूर्ख ही कर सकता है।

चरित्र बल के बिना उक्त पदार्थों से सिर्फ जीवन चल सकता है, शान्ति नहीं मिल सकती। मानव का ध्येय पशु की तरह जीवन चलाना ही नहीं होता। इसके लिए

शान्ति और विकास के द्वार खुले रहते है। हम इस तत्त्व को समझ गए तो आचार्यश्री के जीवन का उपयोग समझना बाकी नही रहेगा।

सौन्दर्य

आचार्यश्री भारतीय आत्मा के प्रतीक हैं। उनका विश्वास जितना अन्तर मे है, उतना बाह्य मे नही है। फिर भी उन्हे बाह्य की विलक्षणता प्राप्त है। उनका अन्तरतम जितना सौन्दर्यपूर्ण है उतना ही सौन्दर्यपूर्ण है उनका बाह्य। जयपुर[1] के राजवैद्य नन्दकिशोरजी ने आचार्यश्री को पहली बार देखा तो एकटक देखते ही रहे। अविराम दर्शन के बाद उन्होने कहा—"सब विलक्षण हैं, किन्तु कान तो बहुत ही विलक्षण हैं। भगवान् बुद्ध की स्मृति हो आती है।"

अन्तर्राष्ट्रीय शाकाहारी मडल के उपाध्यक्ष वुडलैण्ड ने आचार्यश्री से भेंट[2] की। वे आचार्यश्री से वार्ता करने में सलग्न थे। श्रीमती वहेलर अनिमेष दृष्टि से आचार्यश्री के नेत्रो की ओर निहार रही थी। एक प्रसग की पूर्ति पर उन्होंने कहा—"आचार्यश्री! मेरा बहुत लोगो से मिलने का काम पडा है, पर जो ओज, जो आभा और जो सौन्दर्य मैंने अपके नेत्रो मे देखा है, वह मैंने कही नही देखा।"

आचार्यश्री शान्ति-निकेतन मे थे[3]। वे विश्व कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर के सग्रहालय व पुस्तकालय का निरीक्षण कर लौट रहे थे। मार्ग मे कुमारी एलिजाबेथ ब्रूनर मिली। हमारी वेष भूषा ने उसका और उसकी राजस्थानी-सी वेष-भूषा ने आचार्यश्री के परिवार का ध्यान आकृष्ट किया। वह निकट आई। वार्तालाप हुआ। कुछ ही क्षणो मे उसमे आत्मीयता का सचार हो गया। उसने अपने सस्मरणो में लिखा है—"और-और प्रतिक्रियाओ से पूर्व सबसे पहली प्रतिक्रिया मेरे मन पर यही हुई कि आचार्यश्री की आखें बहुत तेजस्वी हैं। आचार्यश्री के नेत्रो का तेज उनके अन्तर के तेज का प्रतिबिम्ब है।" मैं आचार्यश्री को इन्ही पक्तियो से आकता हूँ।

बाहर का सौन्दर्य यहा तो,
अन्तर का प्रतिबिम्ब रहा है।

दिल्ली के सार्वजनिक पुस्तकालय मे (२५ जनवरी, १९६०) आचार्यश्री के अभिनन्दन का आयोजन था। कार्यक्रम की समाप्ति पर आचार्यश्री ने कुमारी एलिजाबेथ से कहा—"तुम हिन्दी मे नही समझती फिर इतने लम्बे समय तक कैसे बैठी रहती हो?" वह सहसा बोली—"प्रेम की भाषा अलग ही होती है। बोल-चाल की भाषा को समझने वाले बहुत होते हैं। पर प्रेम की भाषा को समझने वाले बहुत नही होते।"

---

१ स० १९९८, मेलूसर

२ १ फरवरी, १९५५, बम्बई

३ २२ फरवरी, १९५९

अभय

भय के परिपार्श्व मे जीवन का रस शोप पाता है तो अभय के परिपार्श्व मे वह विकास पाता है। स्थिति जो बनती है, वह बनती ही है। प्रश्न मन की स्थिति का है। भीत मन उसमे डूब जाता है और अभीत मन उसे तर जाता है। आचार्यश्री मे अभय ने पर्याप्त विकास पाया है। कठिनाइयो के कगार पर खडे रहकर भी वे त्रस्त नही होते। पाली की बात है।[1] रात का समय था। मैंने आचार्यश्री के सामने सघ की आन्तरिक स्थिति की चर्चा की। आपने थोडे मे सारी चर्चा का उपसहार कर दिया। आपने कहा—"जिसे साधना मे रस होगा, वही गण मे रहेगा, जिसे रस नही है, वह रहकर भी क्या करेगा ? गण मे कोई दीक्षित होता है, वह अपने हित के लिए होता है, हमे उपकृत करने के लिए नही। आचार्यश्री की निरपेक्ष वाणी मे मेरे सारे प्रश्न विलीन हो गए। दूसरो द्वारा उत्पन्न किए गए अवरोध को सहने मे उतनी कठिनाई नही होती जितनी कठिनाई अपने अनुयायियो द्वारा उत्पन्न किये गए अवरोध को सहने मे होती है। आन्तरिक अवरोध एक अकल्पित भय की सृष्टि कर देता है। आचार्यश्री उस स्थिति मे भी भय-मुक्त रहे हैं। नम्रता के अभाव मे अभय भी कही-कही उद्दण्डता मे परिणत हो जाता है। आचार्यश्री के स्वभाव मे विनम्रता है, लचीलापन है, इसलिए उनका अभय भाव कलुषित नही है। जिस समय तेरापथ के आन्तरिक वातावरण मे एक कम्पन था, उस समय विश्वस्त सूत्रो से ज्ञात हुआ कि कुछ प्रमुख श्रावक आचार्यश्री के कार्यक्रम को सदेहपूर्ण दृष्टि से देखते है। आचार्यश्री ने उस स्थिति के भावो को इन शब्दो मे चित्रित किया है—"कुछ लोग मेरे दृष्टिकोण को सही रूप मे समझ नही पाए हैं। मुझे इस विषय मे काफी सतर्क रह कर कार्य करना चाहिए। लोगो की श्रद्धा या कम श्रद्धा से पहले मुझे अपने-आपको देखना चाहिए। मेरा कार्य किस धरातल पर है, इसका चिन्तन करना चाहिए। जहाँ तक मैं सोचता हूँ मेरा कार्य वर्तमान व भविष्य के लिए लाभ-प्रद है।

सम्भव है कुछ लोगो की दृष्टि मे मैं गलती पर होऊ। छद्मस्थ की भूल हो सकती है। भूल होना कोई बडी बात नही। मेरी भूल मुझे कोई समझाए तो मैं ध्यान-पूर्वक समझने की चेष्टा करूगा। जो ऐसा नही करते, दूर रहकर केवल थोथी आलोचना करते हैं, उनसे मुझे घबडाने की कोई आवश्यकता नहीं।[2]

अभय की साधना के कारण ही वे सब जगह तत्त्व देखते हैं, अच्छाई देखते हैं और जीवन से निराश नही हैं। उनका विश्वास इसलिए व्यापक है कि वे अभय और अहिंसा की भाषा मे बोलते हैं और उसी प्रज्ञा से चिन्तन करते हैं। जहा कुछ भी नही था, वहा बहुत कुछ पाया, उसका रहस्य यही है।

आचार्यश्री लडाई-झगडे मे विश्वास नही करते, व्यर्थ के वाद-विवादो मे नही फसते, उसका रहस्य भी यही अभय का विकास है। लडाई-विवाद, आरोप, ये सब भीत

---

१. सं० २०१७ चैत वदि ६

२. वि० स० २००७ पौष सुदि ६, हरियाणा

मानस की प्रवृत्तियाँ हैं।

आहार-शुद्धि

शक्ति, सात्विकता और मानसिक निर्मलता को मत देखो। पहले देखो कि व्यक्ति क्या खाता है? कितना खाता है? कितनी बार खाता है? कितनी वस्तुए खाता है? आहार पवित्र है और सयत है तो अपार शक्ति का दर्शन होगा, सात्विकता निखरती दृष्टिगोचर होगी और मानसिक उज्ज्वलता प्रवहमान सरिता-सी समुज्ज्वल होगी। आहार अपवित्र है और असयत है तो शक्ति पाचन मे खप जाएगी, तामसिकता बढेगी और मन मे भूत नाचते रहेंगे। आचार्यश्री मे विशाल शक्ति, सात्त्विक वृत्ति और मन की विशदता की उपलब्धि होती है। उसका हेतु आहार का सयम है। जीभ पर पूरा नियन्त्रण है, भूख पर विजय है। शेष इन्द्रियो की अपेक्षा रसना पर अधिक निग्रह है। वे प्राय दो बार खाते हैं। मात्रा मे बहुत कम खाते हैं—समूचे दिन मे दूध सहित भोजन की मात्रा सेर से अधिक नही है। बहुत थोडी वस्तुए खाते हैं। समय-समय पर आहार के विविध प्रयोग भी चलते रहते हैं। आचार्यश्री ने लिखा है—"इस बार पर्यूषण मे सिर्फ सात द्रव्य लग रहे हैं। उनमे दूध, चीनी, फुलका, तोरई का साग और पानी, दो और कोई। कुछ मन पर काबू जरूर रखना होता है। बाकी बडा आनन्द रहता है। १५ दिन मे सिर्फ एक दिन कढाई विगय लगी। प्रतिदिन तीन विगय से अधिक चतुर्मास भर मे भी शायद न लगी। बडा आनन्द है।[1]

इस बार आषाढ शुक्ला ११ से खाद्य-सयम चल रहा है। १३ द्रव्य से उपरान्त प्राय नही लगते। पानी भी इन्ही मे है। उपवास के पारने मे भी इतने द्रव्यो से काम चल जाता है। कठिनाई जरूर पडती है, क्योकि किसी को पता नही है, अत आशका जरूर हो रही है कि क्या बात है? मेरी इच्छा है कि चल सके तो चातुर्मास भर चलाए।[2]

योगासन

आचार्यश्री के दैनिक क्रम मे योगासन भी एक प्रवृत्ति है। समय की खीचा-तानी मे आप प्राय उसके लिए समय निकालते हैं। हलासन, सर्वांगासन, पद्मासन, बद्धपद्मासन ये आपके प्रिय आसन हैं।

अधिक औषध सेवन को आप बहुत बुरा मानते हैं। यथा सम्भव आप औषध नही लेते। जुकाम, ज्वर आदि साधारण स्थिति का प्रतिकार प्राकृतिक साधनो से ही करते हैं। प्राकृतिक चिकित्सा के प्रति आपका विश्वास है।

वक्तृत्व

मानव समाज को लक्ष्य की ओर आकृष्ट करने के दो प्रमुख साधन हैं—लेखन और वाणी। लेखनी मे जहा भावो को स्थायी बनाने का सामर्थ्य है, वहा वाणी मे

---

१ वि० स० २०१४, सुजानगढ

२ वि० स० २०१६, कलकत्ता

तात्कालिक चमत्कार है। आचार्यश्री ने अपनी वाणी द्वारा धर्म को बहुत पल्लवित किया है।

आपका मृदु-मन्द्र स्वर, गम्भीर घोष, सुदूर तक पहुँचने वाली आवाज श्रोता को आश्चर्यचकित किये बिना नही रहती। ध्वनिविस्तारक का सहारा लिए बिना ही आप व्याख्यान करते है फिर भी दस-पन्द्रह हजार व्यक्ति बडी सुविधा के साथ उसे सुन सकते हैं। यह शक्ति बहुत विरले व्यक्तियो को ही सुलभ होती है। राजस्थान मे आपके व्याख्यान की भाषा राजस्थानी होती है। हिन्दी भाषी प्रान्तो मे आप हिन्दी बोलते हैं। गुजराती लोगो मे गुजराती और आवश्यकता होने पर कभी-कभी संस्कृत मे भी व्याख्यान होता है। आप देश-काल की मर्यादाओ को अच्छी तरह समझते हैं। आपके सार्वजनिक वक्तव्यों के अवसर पर हजारो लोग बड़ी उत्सुकता मे आते हैं।

आपकी वाणी सम्बन्धी जो प्राकृतिक विशेषताए प्राप्त हैं, उनसे मानसिक विशेषताए कम प्राप्त नही हैं। आपको हर समय यह ख्याल रहता है—"मेरे व्याख्यान से लोगों को कुछ मिले, वे कुछ सीख सकें। मेरे व्याख्यान अगर लोक-रजन के लिए हुए तो उसमे क्या लाभ।"

जनता की भाषा मे जनता की बातें कहना आपकी बडी विशेषता है। आपके व्याख्यानो मे अधिकतया जनता के जीवन-उत्थान की प्रेरणा रहती है। आपके उपदेश सुन हजारो व्यक्तियो ने दुर्व्यसन छोडे हैं—तम्बाकू, मद्य, मास, शिकार, दुराचार आदि से दूर हुए हैं। सैंकडो ऐसे आदमी देखे जो किसी भी शर्त पर तम्बाकू छोड़ने को तैयार नहीं थे। उन्होंने आपका उपदेश सुनते-सुनते बीडी के बण्डल फैंक दिए, चिलमे फोड दी, आजीवन उससे मुक्त हो गए। कानून की अवहेलना कर मद्य पीने वालों ने मद्य छोड दिया। और क्या, चोर-बाजारी जैसी मीठी छुरी खाने वाले भी आपकी वाणी मे हिल गए। बाण से न हिलने वालो को भी वाणी हिला देती है, इसकी सच्चाई मे किसे सन्देह है।

इस नव-युग की सन्धि वेला मे नवीनता-प्राचीनता का जो सघर्ष चल रहा है, उसे सम्हालने तथा बुड्ढो और युवको को एक ही पथ पर प्रवाहित करने मे आपकी वाक्-शक्ति के सहज दर्शन मिलते हैं।

आप व्याख्यान देते-देते श्रोताओ की मनोदशा का अध्ययन करते रहते हैं। आचाराग सूत्र में बताया है कि व्याख्याता को परिषद् की स्थिति देखकर ही व्याख्यान करना चाहिए, अन्यथा लाभ के बदले अलाभ होने की सम्भावना रहती है। श्रोता की तात्कालिक जिज्ञासा का स्वय समाधान होता रहे यह वक्तृत्व का विशेष गुण है।

गवर्नमेंट कॉलेज, लुधियाना मे एक बार आप प्रवचन कर रहे थे। वहां धर्म-प्रवचन का यह पहला अवसर था। बहुत सारे हिन्दू और सिक्ख विद्यार्थी जैन साधुओ की चर्या से अनजान थे। उन्हे साधुओ की वेष-भूषा भी विचित्र-सी लग रही थी। वे प्रवचन की अपेक्षा बाहरी स्थितियो पर अधिक ध्यान किये हुए थे। आपने स्थिति को देखा। उसी वक्त बाहरी स्थिति से दूर भागने वाले विद्यार्थियो को सम्बोधन करते हुए कहा—"भाइयो ! आप घबडाइए मत। आपके सामने ये जो साधु बैठे है, वे आप

जैसे ही आदमी हैं। श्रेष्ठ आदमी हैं। सिर्फ वेष-भूषा को देखकर आप इनसे दूर मत भागिये। ये तपस्वी हैं। इनके जीवन की कठोर साधना है। ये पढ़े लिखे हैं। इनका सारा समय गम्भीर अध्ययन, चिन्तन, मनन मे बीतता है। आप इनके सम्पर्क से बहुत कुछ सीख सकते हैं।"

दो क्षण मे स्थिति बदल गई। उन्हे आन्तरिक जिज्ञासा का समाधान मिल गया। इसलिए वे इस आशका से हट कर प्रवचन सुनने मे एकाग्र हो गए। आप श्रोताओ की रुचि और स्थिति का बहुत ध्यान रखते हैं। आपने स्वय लिखा है—"तात्त्विक विवेचन करने की रुचि मुझमे सदा रहती है। व्याख्यान मे भी कोई तात्त्विक विषय आ जाये तो उसके अन्दर पैठने मे मुझे खूब आनन्द आता है। किन्तु—बहुधा श्रोताओ की जानकारी की कमी के कारण विषय को जल्दी ही बदल देना पडता है।"[1]

आपके व्याख्यान की सबसे बडी विशेषता यह है कि आप किसी पर आक्षेप नही करते। जो बात कहते है, वह सिद्धान्त के रूप मे कहते हैं। अपनी बात कहते हैं, अपनी नीति बताते है, अपना मार्ग समझाते हैं। दूसरो पर प्रहार नही करते। दूसरो के गुणो की चर्चा करने मे आपको तनिक भी सकोच नही है। जो कोई दूसरो पर व्यक्तिगत या जातिगत आक्षेप करते हैं, उन्हे आप बहुत कमजोर, क्लीव समझते हैं। आप कई बार कहते हैं—"दुकानदार काम इतना ही है कि वह अपनी दुकान का माल दिखा दे। किन्तु यह दुकानदार ऐसा है, वह वैसा है, यह कहना ठीक नही। अगर उसका माल अच्छा है तो दुनिया अपने आप लेगी। अगर अच्छा नही है तो वह कितने दिनो तक दूसरो की बुराई पर अपना माल बेचेगा। आखिर अपने मे अच्छाई होनी चाहिए। वह हो तो दूसरो पर कीचड फेंकने की बात ही न सूझे।"

आप बचपन से ही अध्यापन कार्य मे रहे हैं। इसलिए आपकी वक्तृता मे वह शैली झलक जाती है। प्रत्येक विषय का आदि से अन्त तक निर्वाचन करना, व्युत्पत्ति से फलित तक समझाना आपकी सहज प्रवृत्ति है। स्यात् किसी प्रौढ श्रोता को यह यत् किञ्चित् सा लगे किन्तु जन-साधारण के लिए विशेष उपयोगी है। जन-साधारण के हृदय तक पहुँचाने वालो की वाणी मे सरलता और सरसता हो, यह नितान्त वाञ्छनीय है।

आप व्याख्यान के बीच कही-कही गायन को भी आवश्यक समझते हैं। ग्रामीण अथवा अपढ लोगों के बीच आप अधिकतया कथा और चित्रो का सहारा लेते हैं। उनके द्वारा गूढ से गूढ तत्त्व सरल बन जाता है, हृदय मे पैठ जाता है। पण्डितो मे उनकी भाषा तथा ग्रामीणो मे ग्राम-भाषा के सहारे कार्य करना सफलता की कुंजी है।

आपकी सर्वजनीन वृत्ति का तब हृदयग्राही साक्षात् होता है, जब आप गावो की जनता के बीच पहुँच कर उनकी सीधी-सादी बोली मे उन्हे जीवन सुधार की बातें सुनाते हैं, सत्य-अहिंसा का उपदेश देते हैं।

आचार्यश्री प्रवचन के समय अपने विचारो को सूत्ररूप मे रखते हैं। वे थोड़े

---

१ स० २००७ पौष बदि १३, हिसार (पजाब)

ठेठ जनता के दिल मे चुभ जाते है—

"विश्व शान्ति के लिए अरगुवम आवश्यक है। ऐसी घोषणा करने वालो ने यह नही सोचा—यदि वह उनके शत्रु के पास होता तो ?"

"दूसरा आपको अपना शिरमोर माने—तब आप उसके सुख-दु ख की चिन्ता करें। यह भलाई नही, भलाई का चोगा है।"

"मैं किसी एक के लिए नही कहता, चाहे साम्यवादी, समाजवादी या दूसरा कोई भी हो, उन्हे समझ लेना चाहिए कि दूसरो का इस शर्त पर समर्थन करना कि वे उनके पैरो तले चिपटें रहे, स्वतत्रता का समर्थन नही हैं।"

"न्याय और दलबन्दी—ये दो विरोधी दिशाए है। एक व्यक्ति एक साथ दो दिशाओ मे चलना चाहे, इससे बडी भूल और क्या हो सकती है।"

"स्वतत्र वह है जो न्याय के पीछे चलता है। स्वतत्र वह है जो अपने स्वार्थ के पीछे नही चलता। जिसे अपने स्वार्थ और गुट मे ही ईश्वर-दर्शन होता है, वह परतत्र है।"

"अध्यात्म प्रधान भारतीयो मे अमानवीय बातें अधिक अखरने वाली हैं।"

"वह दिन आने वाला है, जबकि पशुबल से उकताई हुई दुनिया भारतीय जीवन से अहिंसा और शान्ति की भीख मागेगी।"

"हिंसा और स्वार्थ की नीव पर खडा किया गया वाद भले ही आकर्षक लगे, अधिक टिक नही सकता।"

"प्रकृति के साथ खिलवाड करने वाले इस वैज्ञानिक युग के लिए शर्म की बात है कि वह रोटी की समस्या को नही सुलझा सकता। सुख से रोटी खा जीवन बिताना, इसमे बुद्धिमान् मनुष्य की सफलता नही है। उसका कार्य है आत्म-शक्ति का विकास करना, आत्मशोधनोन्मुख ज्ञान-विज्ञान की परम्परा को आगे बढाना।"

आचार्यश्री के शब्दो मे नास्तिकता की बडी युगानुकूल व्याख्या मिलती है—

"आज की दुनिया की दृष्टि धन पर ही टिकी हुई है। धन के लिए ही जीवन है, लोग यो मान बैठे हैं। यह दृष्टि-दोष है—नास्तिकता है। जो वस्तु जैसी नही, उसको वैसी मान लेना ज्यो मिथ्यात्व है, त्यो साधन का साध्य मान लेना क्या नास्तिकता नही है ?

"धन जीवन के साधनो मे से एक है, साध्य तो है ही नही, इस नास्तिकता का परिणाम पहली मजिल मे शोषण, आखिरी मजिल मे युद्ध है।"

आप सामयिक पदार्थाभाव का विश्लेषण करते हुए बडा मननीय दृष्टिकोण सामने रखते हैं। यह दूसरी बात है कि भूतवाद के राग-रग मे फसी दुनिया उसे न समझ पाये अथवा समझ कर भी न अपना सके, किन्तु वस्तु स्थिति उनके साथ है।

"लोग कहते हैं—जरूरत की चीजें कम हैं। रोटी नही मिलती, कपडा नही मिलता, यह नही मिलता, वह नही मिलता आदि-आदि। मेरा ख्याल कुछ और है। मैं मानता हूँ कि जरूरत की चीजें कम नही, जरूरतें बहुत बढ चली—सघर्ष यह है। इसमे से अशान्ति की चिनगारिया निकलती हैं।"

वाहरी नियन्त्रण मे आपकी विशेष आस्था नही है। नियम आत्मा मे बैठकर जो असर करता है, उसका शतांश भी वह वाहर रहकर नही कर सकता। इसको वार-वार वडी वारीकी के साथ समझाते हैं

सफलता की मूल कूजी जनता की भावना है। उसका विकास स्वय-मूलक प्रवृत्तियो के अभ्यास से ही हो सकता है।

नैतिक उत्थान व्यक्ति तक ही सीमित रहा तो उसकी गति मद होगी। इसलिए इस दिशा मे सामूहिक प्रयास आवश्यक है। यह प्रश्न हो सकता है, अक्सर होता ही है। इसका उत्तर सीधा है। मैं न तो राजनैतिक नेता हूँ, न मेरे पास कानून और डडे का वल है। मेरे पास आत्मानुशासन है। अगर आपको जचे तो आप उसे लें।

आप जनतत्र को सफल वनाना चाहते हैं तो आत्मानुशासन सीखें। मेरी भाषा मे स्वतत्र वही है जो अधिक से अधिक नियमानुवर्ती रहे। औरो के द्वारा नही। अपने आप अनुशासन मे चलना सीखें। चलाने से पशु भी चलता है, किन्तु मनुष्य पशु नही है।"

आज का ससार राजनीतिमय वन रहा है। जहा कही सुनिये, उसी की चर्चा है। मनुष्य की वहिर्मुखी दृष्टि ने उसे सत्ता और अधिकारो का लालची वना दिया। इसलिए वह और सव वातो को भुलाकर मारा-मारा उसी के पीछे फिर रहा है। इसी से चारो ओर अशाति की ज्वाला घधक रही है। आप सुख के मार्ग मे राजनीति के एकाधिकार को वाधक मानते हैं।

"राजनीति लोगो के जरूरत की वस्तु होती होगी किन्तु सवका हल उसीमे ढूढना भयकर भूल है। आज की राजनीति सत्ता और अधिकारो को हथियाने की नीति वन रही है। इसीलिए उस पर हिसा हावी हो रही है। इससे ससार सुखी नही होगा। ससार सुखी तव होगा जव ऐसी राजनीति घटेगी , प्रेम, समता, और भाईचारा वढेगा।"

: ८ :

धर्म बीज

तेरापथ के प्रथम आचार्यश्री भिक्षु गणी ने धार्मिको को यह चेतावनी दी कि यदि धर्म अहिंसा और परिग्रह का अखाडा बना रहा, उसके नाम पर बडे-बडे मकान और पूजी एकत्र की गई, धनिक-निर्धन का भेद चलता रहा तो अवश्य ही उसके सिर पर एक दिन खतरे की घटी बजेगी।

भगवान् महावीर की वाणी का प्रतिबिम्ब ले भिक्षु स्वामी से जो किरणें फैली, उनका आचार्यश्री ने महान् उज्जीवन किया।

लोग जब कहते है कि आज वैज्ञानिक समाज की धर्म पर आस्था नही है, तब आप इस तथ्य को स्वीकार नही करते। आपकी धारणा है कि इसमे वैज्ञानिक समाज का दोष नही है। यह सब धार्मिको ने धर्म के नाम पर जो खिलवाड की, उसका परिणाम है। धर्म सबके हित की वस्तु है। उस पर किसी को आपत्ति नही हो सकती। किन्तु अहिंसा और सत्य जिसका स्वरूप है, अपरिग्रह जिसकी जड है, वह धर्म हिंसा, झूठ और परिग्रह का निकेतन बन जाय, तब उसे लोग कैसे अपनायें? कैसे उससे सुख-शान्ति की आशा रखें।

धर्म की जो विडम्बना हो रही है, उसे देखकर आपके हृदय मे बडी भारी वेदना होती है। मथुरा के टाउन-हॉल मे प्रवचन करते हुए आपने कहा

"मुझे इस बात का खेद है कि लोगो ने धर्म को जाति के रूप मे बदल डाला। धार्मिको के आडम्बर, कलह, शोषण, स्वार्थपरता, सकीर्णता, जाति अभिमान आदि के बारे मे जब मैं सोचता हूँ, तब हृदय गद्‌गद् हो जाता है।"

"मैं ऐसे धर्म की साधना के लिए जनता को प्रेरित नही करता। मैं आप लोगो से वैसे धर्म को जीवन मे उतारने का अनुरोध करूगा, जो इन झझटो से परे हो, विश्व-बन्धुत्व का प्रतीक हो।"

आपकी धारणा मे धर्म के सच्चे अधिकारी वे हैं, जो त्यागी और सयमी हैं। आज बहुलाश मे धर्म की बागडोर पूजीपतियो के हाथ मे है इसलिए उस पर से जन-साधारण का विश्वास उठ गया है, धर्म के लिए पूजी का कोई उपयोग नही है।

आपने गत कई वर्षों से पिछडी जातियो की आचार-शुद्धि पर विशेष ध्यान दिया। भगी बस्तियो मे साधुओ को भेजकर व्याख्यान करवाये। अनेको बार आपने स्वय उनके बीच व्याख्यान किये। उनमे बडी श्रद्धा जाग उठी। आपने उनसे कहा —

"आपमे जो स्वय को हीन समझने की भावना घर कर गई, यही आपके लिए

अभिशाप है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के लिए अस्पृश्य या घृणा का पात्र माना जाए, वहा मानवता का नाश है। आप अपनी आदतो को बदलें। मद्य, मास आदि बुरी वृत्तियो को छोड दे। जीवन मे सात्विकता लायें। फिर आपकी पावन वृत्तियो को कोई भी पतित या दलित कहने का दुस्साहस नही करेगा।"

महान् साहित्यकार

आचार्यश्री की लेखनी ने भी बहुत दिया है। यद्यपि आपका अधिकाश समय दूसरो की परिधि मे बीतता है फिर भी साहित्य-रचना हो जाती है। आश्चर्य अवश्य है पर बात यथार्थ है। आचार्यश्री के सन्देश जनता के हृदय का स्पर्श करते रहे हैं। विद्याधर शास्त्री के शब्दो मे "आचार्यश्री की 'अमर-सदेश' नामक पुस्तक विश्वदर्शन की उच्चतम पुस्तक है।"

आचार्यश्री का अशान्त-विश्व को शान्ति का सन्देश विश्व के कौने-कौने तक पहुँचा। न्यूयार्क के साइरेक्यूज विश्वविद्यालय के डा० रेमण्ड एफ० पीपर ने एक पत्र मे लिखा कि उन्होने तुलनात्मक अध्ययन के लिए अपने छात्रो के पाठ्यक्रम मे जैन तेरापथ के नवमाचार्य आचार्यश्री तुलसी द्वारा गत २६ जून, १६४५ को दिये गये प्रवचन 'अशान्त विश्व को शान्ति का सन्देश' के महत्त्वपूर्ण अशो को सम्मिलित कर लिया है।"[1]

आचार्यश्री ने कवित्व का सहज स्पर्श किया है। 'कालूयशोविलास' अपकी अमर काव्य कृति है। उसमे शब्दो का चयन, भावो की गाम्भीरिमा, वर्णना की प्रौढता, परिस्थितियो का प्रकाशन, घटनाओ का चुनाव ऐसी भावुकता के साथ हुए हैं कि वह अपने परिचय के लिए पर-निरपेक्ष है। सगीत के मिठास से भरापूरा वह महाकाव्य जैन-सन्तो की साहित्य-साधना का जीवित प्रमाण है।

मेवाड के लोग श्री कालूगणी को अपने देश पधारने की प्रार्थना करने आये हैं। उनके हृदय मे बडी तडप है। उनकी अन्तर-भावना का मेवाड की मेदिनी मे आरोप कर आपने बडा सुन्दर चित्रण किया है

पतित-उधार पधारिये, सगे सबल लहि थाट।
मेदपाट नी मेदिनी, जोवे खड़ी-खड वाटी॥
सघन शिलोच्चयनैं मिषे, ऊंचा करि-करि हाथ।
चचल दल शिखरी मिषे, दे झाला जगनाथ॥
नयणा विरह तुमारडै, झरै निझरणा जास।
भ्रमराराव भ्रमे करी, लह लांबा नि श्वास॥
कोकिल कूजित व्याज थी, व्रतिराज उडावै काग।
अरघट खट खटका करी, दिलखटक दिखावै जाग॥
मैं अबला अचला रही, किम पहुँचे मम सदेश।
इम झुर-झुर मनु झूरणा, सकोचयो तनु सुविशेष॥

---

१ जैन भारती, मार्च, १६४६

इसमे केवल कवि हृदय का सारस्य ही उद्वेलित नही हुआ है, किन्तु इसे पढते-पढते मेवाड के हरे-भरे जगल, गगनचुम्बी पर्वतमाला, निर्झर, भवरे, कोयल, घडियाल और स्तोकभूभाग का साक्षात् हो जाता है । मेवाड की ऊची भूमि मे खडी रहने का, गिरिशृखला मे हाथ ऊचा करने का, वृक्षो के पवन चालित दलो मे आह्वान करने का, मधुकर के गुंजारव मे दीर्घोष्ण नि श्वास का, कोकिल-कूजन मे काक उडाने का आरोपण करना आपकी कवि प्रतिभा की मौलिक सूझ है । रहट की घडियो मे दिल की टीस के साथ-साथ रात्रि जागरण की कल्पना से वेदना मे मार्मिकता आ जाती है । उसका चरम रूप अन्तर्जगत् मे न रह सकने के कारण बहिर्जगत् मे आ साकार बन जाता है । उसे कवि-कल्पना सुनाने की अपेक्षा दिखाने मे अधिक सजीव हुई है । अन्तर्-व्यथा से पीडित मेवाड की मेदिनी का कृश शरीर वहा की भौगोलिक स्थिति का सजीव चित्र है ।

मघवागणि के स्वर्गवास के समय कालूगणी के मनोभावो का आकलन करते हुए आपने गुरु-शिष्य के मधुर सम्बन्ध एव विरह-वेदना का जो सजीव वर्णन किया है, वह कवि की लेखनी का अद्भुत चमत्कार है—

नेहड़ला री क्यारी म्हारी, मूकी निराधार ।
इसडी क्या कीधी म्हारा, हिवडे रा हार ।।
चितडो लाग्यो रे, मनडो लाग्यो रे ।
खिण-खिण समरू, गुरु थारो उपगार रे ।।
किम विसराये म्हांरा, जीवन-आधार ।
विमल-विचार चारू, अव्वल आचार रे ।।
कमल ज्यू अमल, हृदय अविकार ।
आज सुदि कदि नहीं, लोपी तुज कार रे ।।
वह्यो वलि-वलि तुम, मीट विचार ।
तोरे का पधार्या, मोये मूकी इह वार रे ।।
स्व स्वामीरू शिष्य-गुरु, सम्बन्ध विसार ।
पिणसांची जन-श्रुति जगत् मझार रे ।।
एक पक्खी प्रीत नहीं, पडै कदि पार ।।
पिऊ-पिऊ करत, पपैयो पुकार रे ।
पिण नहीं मुदिर ने, फिकर लिगार ।।

'कालू उपदेश वाटिका,' 'भरत-मुक्ति', 'आषाढभूति', 'अग्नि-परीक्षा' आदि अनेक गीति-सग्रह और खण्ड काव्य आपकी लेखनी से उद्भूत हुए हैं ।

तत्त्व ज्ञान का क्षेत्र भी अस्पष्ट नही रहा है । जैन सिद्धान्त दीपिका, श्री भिक्षु न्यायकर्णिका आदि अनेक महत्त्वपूर्ण कृतिया आपने लिखी । 'आत्मानुशासन' जैसी कृति के द्वारा आपने अपनी साधना का नवनीत भी जन-सुलभ किया है ।

व्यक्ति-निर्माण

आचार्यश्री का जीवन आध्यात्मिक तथ्यो के परीक्षण की एक विशाल प्रयोग-शाला है। बोल-चाल, रहन-सहन, बात-व्यवहार, खान-पान आदि मे सयम का अनुत्तर विकास किया जाए ? यह प्रश्न आपके मन की परिधि का मोह छोडता नही। अपनी वृत्तियो से दूसरो को कष्ट न हो, इतना ही नही किन्तु अपने आपमे भी इन्द्रिया और मन अधिक समाधिवान रहे, इसी भावना से आपका चिन्तन और उसके फलित प्रयोग चलते ही रहते हैं। यो तो आपने समूचे गण को ही प्रयोग केन्द्र बना रखा है।

गण की व्यवस्था करने मे प्रायश्चित्त और प्रोत्साहन ये साधन उपयोग मे आते हैं। गलती करने वालो को उलाहना कम या अधिक, सूखे शब्दो मे या मृदु शब्दो मे, एकान्त मे या सबके सामने कैसे दिया जावे—इन विकल्पो का आप एक-एक गण-सदस्य पर प्रयोग करके देखते हैं। जिस प्रयोग का जिस पर स्थायी असर होता है, अपनी भूलो मे छुट्टी पाने की शक्ति पाता है, उसकी विशुद्धि मे उसी का प्रयोग होता

तपस्या, उपवास आदि प्रायश्चित्त के विविध पहलुओ की भी यही बात है। कई बार इस तथ्य को पकडने मे साधुओ को भी सन्देह हो जाता है। कठोरता की आशका मे मृदुता और मृदुता की आशका मे कठोरता पा वे कभी-कभी सोचने लगते हैं कि क्या बात है ? आचार्यश्री कठोरता को काम मे ही नही लाते, और कभी-कभी यह अनुभव होने लगता है कि आपके पास मृदुता नाम की कोई वस्तु है ही नही।

प्रोत्साहन के दोनो अग प्रशसा और अनुग्रह की भी यही गति है। किसी को साधारण कार्य पर ही प्रशसा या अनुग्रह अथवा दोनो से प्रोत्साहित कर देते हैं तो कोई असाधारण कार्य करके भी कुछ नही पाता।

आचार्यश्री ने एक बार अपनी कार्य-प्रणाली पर प्रकाश डालते हुए कहा

"मेरे कार्यक्रम का मूल आधार है व्यक्ति का विकास। मैं जिस प्रकार जिस व्यक्ति के लाभ होता देखता हूँ, उसके साथ उसी तरीके से बरतता हूँ। इसलिए इस मे किसी को अधिक कल्पना करने की जरूरत नही है।"

आचार्यश्री विभिन्न परिस्थितियो व आन्तरिक उपलब्धियो के जगत् मे रहे हैं। उन्हे वहा जो सस्कार बीज मिले हैं वे उनके जीवन मे अकुरित, पुष्पित और फलित हो रहे हैं। उनमे आकर्षण है, लुभावनी शक्ति है और मन पर टिक जाने वाला प्रभाव है। इसीलिए उनका जीवन आज दर्शनीय, अध्ययनीय, माननीय और अनुकरणीय हो रहा है।

: ६ :

मुनि-जीवन

द्वि-जन्मा

जीवन का दूसरा अध्याय शुरू होते-होते आप द्विजन्मा बन जाते हैं। गृहस्थ-जीवन की समाप्ति और मुनि-जीवन की दीक्षा, दोनों एक साथ होते हैं। हजारों लोगों के देखते-देखते आप अपनी बहिन को साथ लिए वैरागी की पोशाक में दीक्षा-मण्डप में आये, कालूगणी को वंदना की, पास के कमरे में गए। वेप-भूषा बदली। साधु का पुण्य वेप धारण किया। वापस आए। दोनों हाथ जोड़ गुरुदेव के सामने खड़े हो गये। दीक्षा देने की प्रार्थना की। मोहनलालजी अपने बन्धुओं के साथ आगे आए। माता वदनाजी आईं। गुरुदेव से 'श्री तुलसी' को, 'लाडां' को दीक्षित करने की प्रार्थना की।

गुरुदेव ने उनकी स्वीकृति पा दीक्षा का मंत्र पढ़ा। आजीवन के लिए समस्त पापकारी प्रवृत्तियों का हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य और परिग्रह का त्याग कराया। आपने वह स्वीकार किया। गृहस्थ जीवन से तांता टूट गया। मुनि संघ में मिल गये। वह पुण्य दिन था।[1] वह पुण्य-वेला थी; आपके भविष्य और संघ के सौभाग्य निर्माण की। सब प्रसन्न हुए। कालूगणी, मगनलालजी स्वामी और चम्पालालजी स्वामी अधिक प्रसन्न हुए; क्यों हुए उसमें रहस्य है।

तेरापंथ के आचार्य अपने यथेष्ठ उत्तराधिकारी को पाये बिना पूरे निश्चिन्त नहीं बनते। कालूगणी इसी बात की खोज में थे। उन्होंने आपको पाकर संतुष्टि का अनुभव किया। आपकी दीक्षा उनकी खोज की पूर्ण सफलता थी।

मगनलालजी स्वामी बचपन से ही कालूगणी स्वामी के साथी और अभिन्न हृदय रहे। कालूगणी की इच्छा-पूर्ति ही उनकी इच्छा-पूर्ति थी। इसके सिवाय आपकी दीक्षा के प्रेरक भी रहे। अपनी प्रेरणा की सफलता में अधिक खुशी हो, यह स्वाभाविक ही है।

चम्पालालजी स्वामी एक तो आपके भाई ठहरे, वह भी दीक्षित। दूसरे उन्होंने आपको-दीक्षा भावना से दीक्षा होने तक बड़ा श्लाघनीय प्रयत्न किया। आप उनके इस प्रयत्न को अपने प्रति महान् उपकार मानते हैं। सम्भव है, उनके प्रयत्न में कुछ शैथिल्य होता तो इतना शीघ्र दीक्षा-कार्य सम्पन्न न होता। इसलिए वे भी अपनी

---

१. वि० सं० १९८२, पौष कृष्णा ५

विशेष प्रसन्नता के अधिकारी हैं। शैक्ष मुनि तुलसी की प्रसन्नता का पलडा उन सबकी खुशी से भारी था। उस दिन 'तुलसी' की कल्पना को आकार मिला। उनके सपने साकार हुए थे। तुलसी की पूर्व कल्पना यही थी—"मैं बचपन मे माताजी को पूछता ही रहता। पूज्यजी महाराज कहा हैं? अपने यहा कब आएगे? जब कभी पधारते, सचमुच उनकी वह दिव्य-मूर्ति मेरे बाल-हृदय को खीचती रहती। मैं उनके सामने देखता ही रहता। उनका वह कोमल शरीर, गौर वर्ण, दीर्घ मस्थान, सिर पर थोडे से सफेद बाल, चमकती आखे, मैं देखता तब सोचता—"क्या ही अच्छा हो मैं छोटा-सा साधु बन हर वक्त उपासना मे बैठा रहूँ।"

मनुष्य सकल्प का पुतला होता है। दृढ सकल्प हो तो असाध्य लगने वाली वस्तु एक दिन साध्य बन जाती है।

विरक्ति के निमित्त

कालूगणी के व्यक्तित्व का महान् आकर्षण आपकी ससार-विरक्ति का सबसे प्रमुख निमित्त बना। आपकी जन्म-भूमि तेरापथ का एक केन्द्र है। विशेषत आप जिस पट्टी मे रहते, वह धर्म पट्टी के नाम से प्रसिद्ध है। जन्मगत धार्मिक वातावरण, माता की दृढ धर्म श्रद्धा और साधु-साध्वियो का बहु-सम्पर्क, ये सभी बातें उनका पल्लवन करने वाली हैं। चम्पालालजी स्वामी की सत्प्रेरणा भी अपना स्थान रखती है। सबसे बडी बात सस्कारिता है।

हमे यह मानना पडता है कि व्यक्ति के सस्कार ही साधन-सामग्री पा उद्‌बुद्ध होते हैं और उसी दशा मे व्यक्ति के कार्य-क्षेत्र का चुनाव होता है। कालूगणी को मुनि-जीवन का अनुभव था। वे आपको पवित्र पथ की ओर खीच ले गए। रामकृष्ण परम-हस ने आकर्षण की इस वयोभूमि पर बहुत अनुभवपूर्ण बातें कही हैं—आम, अमरूद इत्यादि के केवल साबुत फल ही ठाकुरजी के भोग मे लग सकते हैं। कौवे आदि के द्वारा काटा हुआ दागी फल न तो देव-पूजा मे आ सकता है और न ब्राह्मण अपने कार्य ही मे ला सकता है। इसी प्रकार पवित्र-हृदय बालको या युवा पुरुषो को धर्म-पथ पर लाने की चेष्टा करना उचित है। जिस पुरुष के हृदय मे एक बार भी विषय-बुद्धि प्रवेश कर गई है, उसका धर्म-पथ पर चलना बडा कठिन हो जाता है।

मैं कुमार बालको को इतना प्यार क्यो करता हूँ, जानते हो? बाल्यावस्था मे उनका मन सोलह आना अपने वश मे रहता है। पर बडे होने पर धीरे-धीरे कई भागो मे विभाजित हो जाता है। विवाह होने पर आठ आना स्त्री के पास चला जाता है। सन्तान होने पर चार आना बच्चो की ओर बट जाता है और चार आना माता-पिता, मान-सम्मान और साज-धाज की ओर रहता है। इसीलिए जो लोग छोटी अवस्था मे ईश्वर-लाभ की चेष्टा करते हैं, वे सहज ही मे सफल हो जाते हैं। बूढो के लिए सफ-लता पाना बडी कठिन समस्या हो जाती है।

तोते के गले मे कण्ठी आने पर उसे फिर और नही पढाया जा सकता। जब तक वह बच्चा रहता है, केवल तभी तक वह जो चाहे पढ़ना सीख सकता है। इसी प्रकार

बूढे का मन सहज ही ईश्वर की ओर नही जाता, पर बाल्यावस्था मे थोडी-सी चेष्टा से ही मन स्थिर हो सकता है।

एक सेर दूध मे यदि केवल एक छटाक पानी मिला हो तो थोडी आच मे ही खोआ बनाया जा सकता है, परन्तु यदि एक सेर मे तीन पाव पानी हो तो आसानी से खोआ नही बन सकता, बहुत लकडी और आच की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार बालक के मन मे विषय-वासना बिल्कुल कम होने के कारण उसका मन ईश्वर की ओर सफलतापूर्वक ढल जाता है। परन्तु बूढो के मन मे विषय-वासना खूब ठूस-ठूस कर भरी रहने के कारण उनका मन ईश्वर की ओर नही जाता।

जैसे कच्चा बास आसानी से झुकाया जा सकता है और पक्का बास झुकाया जाने पर टूट जाता है, वैसे ही बच्चो का मन आसानी से ईश्वर की ओर झुकाया जा सकता है। परन्तु बूढो के मन को यदि उस ओर झुकाने का प्रयत्न किया जाए तो वे उस सत्सग को त्याग देते हैं।

मनुष्य का मन मानो सरसो की पोटली है। पोटली की सरसो यदि एक बार बिखर जाय तो इकट्ठा करना मुश्किल हो जाता है।

उसी प्रकार यदि मनुष्य का मन यदि एक बार ससार मे इतस्तत बिखर जाए तो उसे सभालना कठिन होता है। बालक का मन बिखरा न होने के कारण बहुत शीघ्र स्थिर हो जाता है। परन्तु बूढो का मन सोलहो आना ससार मे बटे रहने के कारण उसे ससार से हटाकर ईश्वर मे लगाना बडा ही कठिन कार्य हो जाता है।

सूरज निकलने से पहले यदि दही को मथा जाए तो बढिया मक्खन निकलता है। दिन चढ जाने पर वैसा मक्खन नही निकलता। इसी प्रकार बाल्यावस्था से ही जो ईश्वरानुरागी होते है और साधना मे लगे रहते हैं, उन्हे ईश्वर अवश्य प्राप्त होता है।"[1]

आशु-तोष

कालूगणी से दीक्षा पाकर आप प्रसन्न थे और अपना उत्तराधिकारी पाकर कालूगणी प्रसन्न थे। उन्होने पहली दृष्टि मे ही आपको अपना उत्तराधिकारी चुन लिया था। आचार्य प्रभव ने शय्यभव के लिए जैसे प्रयत्न किया वैसे कालूगणी ने आपके लिए किया। वे वैदिक विद्वान और विवाहित थे। आप जैन-कुल मे उत्पन्न और अविवाहित। उन्हे—"तत्त्व न जायते परम" इस मुनि-वाणी से प्रेरणा मिली और आपके लिए प्रेरक बना मुनिश्री चम्पालालजी का उपदेश। कालूगणी का आशु-तोष छिपा नही रहा। समूचा सघ आपके भावी जीवन का मूल्य आकने लगा। कालूगणी का आप पर जितना वात्सल्य था, उसे शब्द अपनी सीमा मे नही बाध सकते, उसे वे ही समझ सकते है, जिन्होने देखा है। यहा जयाचार्य की वह उक्ति चरितार्थ होती है

---

१ श्री रामकृष्ण उपदेश, पृ० ५२-५५, श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर

"जाण तिके नर जाणसी।
अवर न जाणं लिगारी हो॥"

भावी का सकेत

सूर्य अस्त हो गया था। एक आवाज आई। सब साधु इकट्ठे हो गए। गुरु को वदना की। प्रतिक्रमण—दैनिक-आत्मालोचन शुरू हुआ। मुहूर्त्त भर वही चला। फिर साधु उठे। गुरु के समीप आये। नम्र हो गुरु-वदना की। अपने-अपने स्थान चले गए। थोडी देर वाद कानूगजी ने आपको आमन्त्रण दिया। आप आगे आये। आचार्यवर ने एक सोरठा कहा—"

सीखो विद्यासार पर[1] होकर परमाद नैं।
वय सी बहु विस्तार, धार सीख धीरज मनैं॥

और कहा कि यह सोरठा सबको सिखा देना। आपने आचार्यवर की आज्ञा शिरोधार्य की। रात का आदेश (पहर रात आने के बाद सोने की जो आज्ञा होती है) हुआ। साधु सो गए। चार वजे फिर जागरण हुआ। सूर्योदय मे एक मुहूर्त्त बाकी रहा। एक आवाज आई। सब साधु फिर आचार्यवर को प्रात कालिक वदना करने को एकत्रित हो गए। वन्दना हुई। रात्रिक आत्मालोचन हुआ। सूर्य उगते-उगते साधु दैनिक अपने मे लग गए। आपने आचार्यवर के आदेशानुसार वह सोरठा साधुओ को कण्ठस्थ करा दिया।

समय की गति अमब है। दिन पूरा हुआ, रात आई। जो कल हुआ, वह आज भी हुआ। आप आचार्यवर को वन्दना कर मत्री मुनि मगनलाल जी स्वामी को वन्दना करने गए। उन्होने आपसे कहा—"आचार्यवर ने जो तुझे सोरठा फरमाया—उनके उत्तर मे तू ने कुछ किया क्या ? आपने सकुचाते हुए कहा—"नही।" मन्त्री मुनि का सकेत पा आपने एक सोरठा रच आचार्यवर को निवेदित किया—

"महर रखो महाराय, लख चाकर पदकमलनो।
सीख अपो सुखदाय, जिम जल्दी शिव गति लहूँ॥

यह काव्यमय गुरु-शिष्य सवाद भावी गति-विधि का सकेत था। अगर आप साधु-सघ की दृष्टि मे होनहार न होते तो यह सम्वाद अवश्य एक नई धारणा पैदा करता। वैसी स्थिति पहले बनी हुई थी, इसलिए यह इसका पोषक मात्र बना।

जीवन-सूत्र

प्रात ४ वजे जागना और रात को दस वजे सोना, इसके बीच साधुचर्या का पालन करना, अतिरिक्त समय मे अध्ययन, स्वाध्याय, स्मरण आदि करना, सक्षेप मे

---

१ दूर

आपकी यह दिनचर्या रहती। आप घण्टो तक खडे-खडे स्वाध्याय करते। आपने कई बार रात के पहले पहर मे तीन-तीन हजार श्लोको का स्मरण—पुनरावर्तन किया। आप समय को बिलकुल निकम्मा नही गमाते। मार्ग मे चलते-चलते कही दो मिनट भी रुकना होता, वही स्मरण करने लग जाते। यह अध्यवसाय आपके लिए साधारण था। "एक क्षण भी प्रमाद मत कर" भगवान् महावीर के इस वाक्य को आपने अपना जीवन-सूत्र बना रखा था।

शिक्षा-लाभ

आपने मुनि जीवन मे ११ वर्षो मे लगभग २० हजार श्लोक कण्ठस्थ कर पौराणिक कण्ठस्थ परम्परा मे नई चेतना ला दी। वह एक युग था जबकि जैन के आचार्य और साधु-सत विशाल ज्ञान-राशि को कण्ठात्-कण्ठ सचारित करते थे। किन्तु इस बदले वातावरण मे २० बजार श्लोक याद करना आश्चर्यपूर्ण बात है। आपके कण्ठस्थ ग्रन्थो मे मुख्य ग्रन्थ व्याकरण, साहित्य-दर्शन और आगम विषयक थे। आपने मातृभाषा के अतिरिक्त सस्कृत प्राकृत का अधिकार पूर्ण अध्ययन किया।

आपकी शिक्षा के प्रवर्तक स्वय आचार्यश्री कालूगणी रहे। उनके अतिरिक्त आयुर्वेदाचार्य, आशुकविरत्न प० रघुनन्दनजी का भी सुन्दर सहयोग रहा। इनके जीवन का बहुल भाग पूर्वाचार्य श्री कालूगणी तथा आचार्यश्री के निकट सम्पर्क मे बीता है। ये मुनिश्री चौथमलजी द्वारा रचित भिक्षुशब्दानुशासन की बृहद् वृत्ति के लेखक हैं। "प्राकृत काश्मीर" इनकी छोटी किन्तु सुन्दरतम रचना है। प्रकृति के साधु हैं। इन्होने निरवद्य विद्या दान के रूप मे तेरापथ गण की अमूल्य सेवाए की है और कर रहे हैं।

सोलह वर्ष की अवस्था मे आप कवि बने। पट्टोत्सव, मर्यादोसत्व आदि विशेष अवसरो पर आपकी कविता लोग बडे चाव से सुनते। आपने १८ वर्ष की उम्र मे "कल्याण-मन्दिर" की समस्या-पूर्ति के रूप मे "कालू कल्याण-मन्दिर" नामक एक स्तोत्र रचा। आपका स्वर बडा मधुर था। आप उपदेश देते, व्याख्यान करते, गाते, तब लोग मुग्ध बन जाते। बहुधा ऐसा ही होता कि आप गीतिका गाते और कालूगणी उसकी व्याख्या करते। आप कई बार कहा करते कि "मैं ज्यो-ज्यो अवस्था मे बडा होता गया, त्यो-त्यो मोटे स्वर मे गाने और बोलने की चेष्टा करने लग गया। कारण कि ऐसा किये बिना प्राय अवस्था परिवर्तन के साथ-साथ (१६ वर्ष के बाद) एकाएक कण्ठ बेसुरे बन जाते हैं।"

आप सदा कालूगणी के साथ मे रहे। सिर्फ एक बार शारीरिक अस्वास्थ्य के कारण कुछ महीनो के लिए आपको अलग रहना पडा। गुरु सेवा की सतत-प्रवृत्ति के कारण आपको यह बहुत असह्य लगा। कालूगणी स्वय आपको अलग रखना नही चाहते थे, मर्यादोत्सव के दिन मे साधु-साध्वी वर्ग की सारणा-वारणा के समय आचार्यवर सिर्फ आपकी ही सेवाए लेते थे। शिक्षा के क्षेत्र मे भी आपकी प्रवृत्तियो से आचार्यवर पूर्ण प्रसन्न थे। आखिरी वर्षों मे वे इस चिंता से सर्वथा मुक्त रहे।

शिक्षा-दान

आपने शिक्षा के दो वर्ष वाद साधुओ को पढाना शुरु किया। आपको केवल प्रतिभा ने ही अध्यापक नही वनाया। दूसरो को अपनाने की वृत्ति ने इसमे पूरा सहयोग किया। आप अपने मूल्यवान् समय का वहुभाग दूसरो को देते। सिर्फ पढाने के लिए ही नहीं, कुछ वनाने के लिए भी। अपने विद्यार्थी साधुओ की सार-सभाल करना, कार्यकुशल वनाना, आचार-विचार की निगाह रखना, रहन-सहन, खान-पान का ध्यान रखना, उनके निजी कार्यो की चिंता करना, अनुशासन वनाये रखना, ये आपकी अध्यापन क्रिया के अग थे। आप कही वधे या नही वधे, पता नही, वाधने मे वडे दक्ष थे। आपकी उदारता से प्रभावित हो थोडे वर्षो मे आपके लगभग १६ स्थायी विद्यार्थी वन गए।

प्रसगवश कुछ अपनी वात कह दू। उन विद्यार्थियो मे एक मैं भी था। यह हमारा निजी अनुभव है। हम पर जितना अनुशासन आपकी भोहो का था, उतना आपकी वाणी का नही था। आप हमे कम से कम उलाहना देते थे। आपकी सयत प्रवृत्तिया ही हमे सयत रखने के लिए काफी थी। आपमे शिक्षा के प्रति अनुराग पैदा करने की अपूर्व क्षमता थी। आप कभी-कभी हमे वडी मृदु वातें कहते

"अगर तुम ठीक से नही पढोगे तो तुम्हारा जीवन कैसे वनेगा, मुझे इसकी वडी चिंता है। तुम्हारा यह समय वातो का नही है। अभी तुम ध्यान से पढो, फिर आगे चल खूव वातें करना। यह थोडे समय की परतन्त्रता तुम्हे आजीवन स्वतन्त्र वना देगी। आज अगर तुम स्वतन्त्र रहना चाहोगे तो सही अर्थ मे जीवन भर स्वन्त्र नही वनोगे। मेरा कहने का फर्ज है, फिर जैसी तुम्हारी इच्छा । इसमे जवरदस्ती का काम है नही, आदि आदि।"

विद्यार्थियो मे उत्साह भरना आपके लिए सहज था। हमने नाममाला कंठस्थ करनी शुरु की। वडी मुश्किल से दो श्लोक कण्ठस्थ कर पाते। नीरस पदो मे जी नहीं लगता। हमारा उत्साह वढाने के लिए आप आधा-आधा घटा तक हमारे साथ उसके श्लोक रटते, उनका अर्थ वताते। थोडे दिनो वाद हम एक-एक दिन मे छत्तीस-छत्तीस श्लोक कण्ठस्थ करने लग गए। और क्या, वात-वात मे आप स्वय कठिनाइया सह हमारी सुविधाओ का ख्याल करते। कारलाइल ने लिखा है —

"किसी महापुरुष की महानता का पता लगाना हो तो यह देखना चाहिए कि वह अपने से छोटो के साथ कैसा वर्ताव करता है।"

आपका मुनि-जीवन निःसन्देह एक असाधारण महानता लिए हुए था।

महान् उपलब्धि

दीक्षा लेते ही आप कालूगणी के सर्वाधिक कृपा-पात्र वन गए। कालूगणी की आप पर पहले क्षण मे जो दृष्टि पहुँची वह अव साकार वन दूसरो के सामने आई। एक वार मन्त्रीमुनि मगनलालजी स्वामी ने वताया कि आपके विरक्ति काल मे ही कालूगणी का ध्यान आपकी ओर झुक गया था। आपके दुवले-पतले, कोमल शरीर को

स्फूर्ति और विशाल एव चमकदार आखो का आकर्षण अपना उज्ज्वल भविष्य छिपाए नही रख सका।

तेरापथ सघ मे शिष्य के लिए आचार्यश्री के वात्सल्य का वही स्थान है, जो प्राणी के जीवन मे श्वास का। आपने कालूगणी का जो वात्सल्य पाया, वह असाधारण था। आचार्य के प्रति शिष्य का आकर्षण हो यह विशेष बात नही, किन्तु शिष्य के प्रति आचार्य का सहज आकर्षण होना विशेष बात है। उसमे भी कालूगणी जैसे गभीर चेता महापुरुष का हृदय पा लेना अधिक आश्चर्य की बात है। जिन्हे अपनी श्रीवृद्धि मे बहिर्जगत् का प्रत्यक्ष सहयोग नही मिला, अपनी कार्यजा शक्ति, कठोर श्रम और दृढ निश्चय के द्वारा ही जो विकसित बने, वे कालूगणी अनायास ही ११ वर्ष के नन्हे शिष्य को अपना हृदय सौप दें, इसे समझने मे कठिनाई है किन्तु सौंपा, इसमे कोई शक नही।

जैन साधुओ को आचार और विचार ये दोनो परम्पराए समान रूप से मान्य रही है। विचार-शून्य आचार और आचार-शून्य विचार पूर्णता की ओर ले जाने वाले नही होते। दीक्षा होने के साथ-साथ आपका अध्ययन क्रम शुरू हो गया। उसकी देख-रेख कालूगणी ने अपने हाथ मे ही रखी। एक ओर जहा चरम सीमा का वात्सल्य भाव था, दूसरी ओर नियन्त्रण और अनुशासन भी कम नही था।

साधु-सघ का सामूहिक अनुशासन होता है, वह तो था ही, उसके अतिरिक्त व्यक्तिगत नियन्त्रण और अनुशासन जितना आप पर रहा, शायद ही उतना किसी दूसरे पर रहा हो। चाहे आप यो समझ लें—वह जितना आपने सहन किया, उतना शायद ही कोई दूसरा सहन कर सकता है। अथवा कालूगणी ने उसकी जितनी आवश्यकता आप पर समझी, शायद किसी दूसरे पर उतनी न समझी हो। कुछ भी हो आपकी इस तितिक्षा ने अवश्य ही आपको आगे बढाया, बहुत आगे बढाया, हम न उलझें तो यह सही है।

वात्सल्य और अनुशासन इन दोनो के समन्वय से तितिक्षा के भाव पैदा होते हैं और उनसे जीवन विकासशील बनता है। कोरे वात्सल्य से उच्छृखलता और कोरे नियन्त्रण से प्रतिकार के भाव बनते हैं, यह एक सीदी-सादी बात है।

आप अपनी अनुशासन करने की आदत पर ही नही रहे, उसका पालन करने की भी आदत बना ली। यह उचित था। स्वय अनुशासन को न पा लें, उसे पलवाने की भी आशा नही रखनी चाहिए।

आपकी दैनिक चर्या पर चम्पालालजी स्वामी निगरानी रखते थे। यह आवश्यक था या नही, इस पर हमे विचार नही करना है। उनमे अपने बन्धु के जीवन-विकास की ममता थी, उत्तरदायित्व की अनुभूति थी, यह देखना है। आप उनका बहुत सम्मान रखते। उनकी इच्छा का भी अतिक्रमण नही करते।

अध्ययन मे सलग्न रहना, गुरु-उपासना करना, स्मरण करना, कम बोलना, अपने स्थान पर बैठे रहना, अनावश्यक भ्रमण न करना, हास्य-कुतूहल न करना—ये आपकी प्रकृतिगत प्रवृत्तिया थी।

कालूगणी ने आपको सामुदायिक कार्य विभाग (जो सब साधुओ को बारी से करने होते हैं) से मुक्त रखा। उनके बहुमुखी अनुग्रह से समूचा सघ का ध्यान आपकी

ओर खीच गया । आप लोगो के लिए कल्पनाओ के केन्द्र बन गए, बडे-बडे साधु भी आपके प्रभाव की स्थिति को स्वीकार करते थे ।

अर्हता

पूज्य कालूगणी के अन्तिम तीन वर्ष जीवन के यशस्वी वर्षों मे से थे । उनमे आचार्यवर ने क्रमश मारवाड, मेवाड और मध्य भारत की यात्रा की । उसमे आपको भी अनुभव बढाने का अच्छा मौका मिला । इससे पूर्व आपकी दीक्षा के बाद आचार्यवर सिर्फ बीकानेर स्टेट मे ही रहे । वहा भी आप जन-सम्पर्क मे बहुत कम आए । केवल अध्ययन-अध्यापन मे ही रहे । यात्राकाल मे आपने कुछ समय जन-सम्पर्क मे लगाना शुरू किया । रात के समय बहुलतया व्याख्यान भी आप देने लगे । ये तीन वर्ष आपके लिए व्यावहारिक शिक्षा के थे । कालूगणी ने आपको कुछ बनाने का निश्चय किया । उसके पीछे बडे बलवान् यत्न रहे । आपके विकास के प्रति आचार्यवर की सजगता को एक छोटी-सी किन्तु बहुमूल्यवान् घटना मैं पाठको के समक्ष रखूगा ।

जैन मुनि पाद विहार करते है । यह बताने की जरूरत नही । आचार्यवर मध्य-भारत की यात्रा मे थे, तब की बात है । आप विहार के समय आचार्यवर के साथ-साथ चलते । वृद्ध अवस्था के कारण आचार्यवर धीमी गति मे चलते । समय अधिक लगता, इसलिए आचार्यवर ने एक दिन कहा—"तुलसी ! तू आगे चला जाया कर, वहा जा सीखा कर।" आपने साथ रहने का नम्र अनुरोध किया, फिर भी आचार्यवर ने वह माना नही । इसे हम साधारण घटना नही कह सकते । आपके २०-२५ मिनट या आध घण्टे का उनकी दृष्टि मे कितना मूल्य था, इसका अनुमान लगाइए ।

आपने कालूगणी को जितनी त्वरा से अपनी ओर आकृष्ट किया, उसका सूक्ष्म विश्लेषण करना दूसरे व्यक्ति के लिए सम्भव नही है । वे स्वय इसकी चर्चा करते तो कुछ पता चलता । खेद है कि वैसी सामग्री उपलब्ध नही हो रही है । ऐसा सुना जाता है कि आपके प्रति कालूगणी की जो कृपा दृष्टि थी, वह सस्कार जन्य थी । यह ठीक है, फिर भी कारण खोजने वालो को इतने मात्र से सन्तोष नही होता । वह कार्य-कारण के तथ्यो को ढूढ निकाले बिना विश्राम नही ले सकता ।

तेरापथी के एकाधिनायक आचार्य मे अनुशासन की क्षमता होना सबसे पहली विशेषता है । एक शृखला, समान आचार-विचार और व्यवहार मे चलने की नीति बरतने वाले सघ मे योग्यता के साथ अनुशासन बनाये रखना बडी दक्षता का काम है । सैकडो साधु-साध्वियो और लाखो श्रावक-श्राविकाओ का एकाधिकार पूर्ण सफल नेतृत्व करना एक उल्लेखनीय बात है । हमे आचार्यश्री भिक्षु की सूझ पर, उनके कर्त्तव्य पर सात्विक अभिमान है । उनके हाथो से बना हुआ सगठन एकता का प्रतीक है, बेजोड है । जहा सघ होता है, वहा शासन भी होता है । शासन का अर्थ है—सारणा और वारणा, प्रोत्साहन और निषेध, उलाहना और प्रशसा । इन दोनो प्रकार की स्थितियो मे उनकी मनोभावनाओ को समान स्तरीय रखना, यही सघपति के कार्य की सफलता है ।

दूसरी विशेषता है—आचार-कौशल । विचार की अपेक्षा आचार का अधिक

महत्त्व है। आचारहीन व्यक्ति के विचार अधिक मूल्य नही रखते। श्रीमद् जयाचार्य ने लिखा है कि एक नौली मे सौ रुपये होते हैं, उनमे ९९ रुपयो के बराबर आचार है और ज्ञान एक रुपए के समान है। हमारी परम्परा मे आचार-कुशल का कितना महत्त्व है, यह निम्नलिखित एक धारणा से स्पष्ट हो जाता है—

मानो एक आचार्य के सामने दो शिष्य हैं. एक अधिक—आचारवान् और दूसरा अधिक पण्डित। आचार्य को अपना पद किसे सौंपना चाहिए ? हमारी परम्परा बताती है पहले को—आचार-कुशल को। आचार्य शब्द की उत्पत्ति भी आचार-कुशलता से हुई है—"आचारे साधु आचार्य"।

गच्छाचार मे बताया है—पुरुष चार प्रकार के होते हैं—

(१) जितेन्द्रिय और अभीत परिषत्
(२) भीत परिपत् और अजितेन्द्रिय
(३) जितेन्द्रिय और भीत परिपत्
(४) अजितेन्द्रिय और अभीत परिपत्।

तीसरी कोटि के व्यक्ति को आचार्य पद देना चाहिए। अनुशासन को मैंने पहला स्थान आचार-कुशलता की पुष्टि के लिए दिया है।

एक साधु को आचार-कुशल होना चाहिए, यह पर्याप्त हो सकता है, किन्तु आचार्य के लिए यह पर्याप्त नही होता। उनके साथ एक सूत्र और जुडता है, जैसे-स्वय आचार-कुशल रहना और दूसरे साधु-साध्विया आचार-कुशल रहे, वैसी स्थिति बनाये रखना। उस स्थिति का नाम है—अनुशासन। इसलिए आचार्य के प्रसग मे आचार-कौशल से पहले अनुशासन को स्थान मिले, यह कोई अनहोनी बात नही है। अनुशासन की योग्यता रखने वाला आचार-कौशल ही एक मुनि को आचार्य-पद तक पहुँचा सकता है।

तीसरी विशेषता—सघ-हितैपिता और चौथी है विद्या। कालूगणी ने आपको पहली बार देखा, तब आपके प्रति उनका सहज आकर्षण बना, उसे हम सस्कार मान सकते हैं। किन्तु बाद मे उनकी आपको उत्तराधिकारी बनाने की धारणा पुष्ट होती गई, वह आपकी योग्यता का ही परिणाम है।

उपकृति की रेखाएं

उपकारी होता है वह भी कभी उपकृत होता है। आचार्यश्री आज महान् उपकारी हैं। पर एक दिन वे भी दूसरो द्वारा-उपकृत हुए हैं। परम पूज्य कालूगणी द्वारा उपकृत हुए हैं, यह कहने की अपेक्षा यह कहना अधिक सगत होगा कि आप जो कुछ है वह सब पूज्य कालूगणी की ही देन है। उनसे आचार्यश्री का इतना तादात्म्य है कि इस अद्वैत मे उपकारी और उपकृत की कल्पना करना भी न्याय नही है।

दो शब्दो मे पूज्य कालूगणी को सीमित कर मैं अपनी भावना को कुण्ठा देना नही चाहता। उनका परिचय स्वयं आचार्यश्री हैं और कालू यशोविलास मे आचार्यश्री ने उन्हे इस कौशल से अकित किया है कि वहा चित्रकार की भूमिका और कवि की कलम मे कोई भेद नही रहा है।

आचार्यश्री के निर्माण मे दूसरा स्थान मन्त्रीमुनि मगनलालजी स्वामी का है। उनके स्वर्गवास पर आचार्यश्री ने जो लिखा, उसमे उनके जीवन की यथार्थ छाया है— "शाम को नानउ नहर की कोठी मे ठहरे हुए थे। प्रभुदयाल और गौरीशकरजी आए। मन्त्रीमुनि के गिरते हुए स्वास्थ्य का सवाद मिला। गौरीशकरजी बोले—इस बार उनका शरीर रह नही सकता। वे वापस चले गए—रात्रि-कालीन प्रार्थना हो रही थी। बीच मे ही चन्दन कठौतिया आए। मन्त्रीमुनि स्वर्गवासी हो गए। यह सवाद सुनाया। प्रार्थना के बाद मैंने यह घोषणा की तो सब स्तब्ध से रह गए। मौन और ध्यान किया। मुझे एक बार धक्का-सा लगा। बहुत अटपटा लगा। उनके एक-एक दिन याद आने लगे। कालूगणी के स्वर्गवास पर जितनी कठिनाई का अनुभव नही हुआ उतना आज हुआ। मेरे निर्माण मे उनका कितना हाथ रहा? मैं बखान नही कर सकता।

"मेरे मन्त्री, ओह! कितने विनीत चित्तानुवर्ती, मानसिक शान्ति देने वाले, इगितज्ञ, दूरदर्शी, दीर्घ-दर्शी, मनस्वी, सम्मित-दाता, सूझ-बूझ के धनी, शासन-प्रभावक, इतिहास-वेत्ता, उदारमना, परिश्रमी, निगर्वी, महामेधावी, समयज्ञ, शासन-सेवी, पथ-प्रदर्शक, कुशल-वैद्य, चार्तीर्थ के हितमित और पथ्य के चिन्तक! खेद आज वे सदा के लिए अपना स्थान रिक्त कर गए।"[1]

इस महान् व्यक्तित्व के निर्माण मे एक महत्त्वपूर्ण स्थान सेवाभावी मुनिश्री चम्पालालजी का है। भाई सब भाई ही हो, यह आवश्यक नही। वह भाई न होकर भी भाई बन जाता है, जो निर्माण मे योग देता। जो भाई भी हो और निर्माण मे सहयोगी भी हो, उसके दोनो पक्ष स्वस्थ होते हैं। सेवाभावी मुनिश्री चम्पालालजी ने अनेक उडानें ली हैं। उसका रहस्य यही है कि उनके दोनो पक्ष स्वस्थ हैं। वे सहज ऋजु हैं। प्रकृति मे उफान है, पर दूध की भाति स्नेह-युक्त। जल की थोडी बूदे पर्याप्त हैं। आचरण विशुद्ध है और वे स्वभावत निरपेक्ष हैं। इसीलिए स्वतन्त्र मनोभाव को अधिक पसन्द करते हैं। बहुत शीघ्र द्रवित हो जाते हैं, चिन्तन से भी करुणा आगे है। गर्व नही है पर हीनता भी प्रिय नही है। मिलन की प्रवृत्ति मे शैशव, यौवन और वार्धक्य तीनो का मिश्रण है, रूढिवाद से मुक्त हैं। पुराने होकर भी नित नये हैं। भिक्षु शासन के प्रति अटूट आस्था है और धर्म से सहज अनुराग है। अनुशासन प्रिय हैं। उनकी प्रवृत्तियो ने आचार्यश्री को प्रभावित किया था।

आचार्यश्री के अध्ययन व वक्तृत्व के प्रारम्भ मे मुनिश्री चौथमलजी का भी कुछ योग रहा है। उनका जीवन महाव्याकारण भिक्षुशब्दानुशासन के निर्माण मे खपा। उन्होने भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर का श्रम साध्य सकलन किया। उनका स्वर्गवास होने पर आचार्यश्री ने लिखा—"एक सेवाभावी, श्रद्धानिष्ठ, शासन-सेवी, गुरुभक्त, कठिन परिश्रमी, मिलनसार, परम विनीत, प्रामाणिक कार्यकर्त्ता, लेखक, वक्ता, कलाकार, अनेक गुण-सम्पन्न साधु आज शासन से सदा के लिए विदा हो गए।"[2]

---

1 वि० स० २०१६ पौष सुदि, अलीगढ

2 वि० स० २०१७ पौष बदि ५, कानोड

मुनिश्री भीमराजजी स्वामी और हेमराजजी स्वामी का भी आचार्यश्री के निर्माण मे योग-दान है। आगमिक ज्ञान-सम्पदा की वृद्धि मे इन दोनो का सहकार मिला है। ये दोनो ही शास्त्रो के पारगामी विद्वान् व वाद विद्या मे निपुण थे। दोनो का दृष्टिकोण अनाग्रह पूर्ण और प्रशस्त था।

प० रघुनन्दनजी की सेवाए भी अविस्मरणीय है। आचार्यश्री की ज्ञान-सम्पदा मे उनका विशिष्ट योग है। वे आयुर्वेदाचार्य हैं, अप्रतिम प्रतिभा के धनी हैं। उन जैसा प्रशस्त आशुकवि हमने आज तक नही देखा। वे प्रसिद्धि से दूर भागते हैं। मौन और शात। जीवन मे मुनि के जैसा विराग, उनकी समयज्ञता, विद्यानुरागिता, सयतता और उदार चिन्तन से आचार्यश्री बहुत प्रभावित रहे हैं।

आचार्यश्री ग्रहणशील हैं। इसलिए उन्होने और भी अनेक साधुओ व गृहस्थो से कुछ न कुछ लिया है और उसे आत्म-सात किया है।

: १० :

शैशव

जीवन का प्रथम सोपान

कोई व्यक्ति कब और कहा जन्म लेता है, कैसे उसका लालन-पालन होता है, इनमे अपने आप जिज्ञासा पैदा नही होती। व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व ही उसमे जिज्ञासा भरता है। व्यक्ति जब व्यष्टि की सीमा तोडकर समष्टि बन जाता है, तब उसके प्रत्येक कार्य की जानकारी अभिप्रेत हो जाती है। आचार्यश्री के पट्टोत्सव का अभिनन्दन करते मैंने एक बार लिखा था

जब तक तुम इस 'तुम' के भीतर, बन्धे हुए थे स्वामी।
तब तक तुम 'तुम' मे पलते थे, थे अपने तन के स्वामी॥
कौन तुम्हारी अर्चा करने, कब कहां था आया।
किसने इन कोमल चरणो मे, था अपना शीश नवाया॥
जब तुमने सद्बोधि लाभकर, 'तुम' की मर्यादा तोडी।
जन-जन के अन्तर मानस से, ममता समान जोड़ी॥
स्वामी! तब से बन पाये हो, जन-मन के अधिकारी।
अन्तर्यामी बन पाये हो, जन-जन की बलिहारी॥

वह अतीत जो उज्ज्वल वर्तमान की श्रृंखला का सकलन करता है, जिसके गर्भ मे सारी शक्तिया छिपी रहती हैं। क्या वह अभिव्यक्ति के बाद भुलाने की वस्तु है? नही। जो व्यक्ति अपने अतीत के अध्याय को नही पढता, कार्य-कारण के परिणामो पर दृष्टि नही डालता, जागृति और अभ्युदय, भूल और सुधार के पन्ने को नही उलटता, वह सफल मानव नही बन सकता। मानव किस रूप मे आता है और क्या-क्या मे क्या बनता है यह अतीत ही बता सक्ता है।

पारिवारिक स्थिति

एक सम्पन्न ओसवाल परिवार मे आप जन्मे। आपके पिताश्री का नाम झूमरमलजी और माताश्री का नाम वदनाजी है। आपने अपने अतीत के कुछ सस्मरण शीर्षक से बाल-जीवन की स्मृतिया लिखी। उनसे आपकी तात्कालिक पारिवारिक स्थिति का सजीव चित्र सामने आ जाता है —

मेरे ससार पक्षीय दादा राजरूपजी और पिता झूमरमलजी का देहावसान क्रमश मेरी तीन और पाच वर्ष की अवस्था मे हो चुका था। मेरे दादाजी दृढ सहनन, विशाल-काय, प्रसिद्ध खुराक, धर्म प्रेमी और बडे प्रतिष्ठित थे। मेरे पिताजी सरल प्रकृति के थे। उनको अन्तिम वर्षो मे सग्रहणी की बीमारी हो गई थी। परिवार बडा था, पिताजी कभी-कभी चिन्ता करने लगते कि अभी तक कोई ऐसा 'कमाऊ', व्यापार-कुशल नही है, घर का काम कैसे चलेगा? तब दादाजी कहते—"क्या चिन्ता है? परिवार मे कोई एक ऐसा जीव पैदा होगा, जिसकी पुण्याई से सब चमक उठेगे।"

माताश्री वदनाजी प्रारम्भ से ही बडे शुद्ध हृदय और सहज सरल-स्वाभाव वाली थी। वे दादाजी दादीजी और मेरे पिताजी की बडी भक्ति मे सेवा करती रही। समूचे परिवार का पोषण, बुजुर्गो की सेवा, घर का सरक्षण आदि काम करने मे उन्होने अच्छा यश प्राप्त किया।

हमारे छ भाइयो मे बडे भाई मोहनलालजी थे। पिताजी के गुजर जाने के बाद समूचे घर का भार उन पर आया। उस समय हमारा घर कर्जदार था। परन्तु मोहनलालजी बडे साहसी और विचारक रहे है। उन्होने अपनी कमाई मे समूचा कर्ज चुकाकर घर को स्वतत्र बनाया। हम सब भाई मोहनलालजी को पिता तुल्य समझते थे। मैं तो उनसे इतना डरता था कि उनके सामने बोलना तो दूर रहा, इधर से उधर देखने मे भी सकुचाता था।

हिन्दुस्तान मे चिरकाल से सयुक्त पारिवारिक प्रथा चली आ रही है। एक मुखिया के सरक्षण मे रहना, अनुशासन और विनय का पालन करना, नम्रभाव रखना, बडो के सामने अनावश्यक न बोलना, हँसी मजाक न करना आदि-आदि इसकी विशेषताए हैं। झूमरमलजी की अपने परिवार के लिए चिन्ता करना, अन्य भाइयो को, मोहन-लालजी को पिता तुल्य समझना, उनसे सकुचाना आदि-आदि इस सयुक्त पारिवारिक प्रथा के पीछे रही हुई भावना के परिणाम हैं। परिवार का लालन-पालन घर की सार-सभाल, बुजुर्गो की एव पति की सेवा करना भारतीय नारी की आदर्श परम्परा रही है। वदनाजी के गृहस्थ-जीवन मे उसके पूर्ण दर्शन होते है।

संस्कारो के बीज

परिवार की स्थिति का व्यक्ति के हृदय पर प्रतिबिम्ब पडता है। बालक की अपनी निजी विशेषताए होती हैं। फिर भी परिवार के सदस्य और विशेषत मा के कार्य-व्यवहार एव आचार-विचार बालक के दिल को सीधे तौर पर छुए बिना नही रहते।

आचार्यश्री ने अपने सस्मरणो मे लिखा है—"मेरी माताजी की अधिक धार्मिक प्रकृति होने के कारण सभी घरवालो मे और मुझ मे भी अच्छे धार्मिक सस्कार गहरे जम गए। रोजाना सतियो के दर्शन के लिए जाना, उनका व्याख्यान सुनना, सेवा करना, आदि कार्यों मे बडी दिलचस्पी रहती थी।

मैं कभी व्याख्यान मे नही जाता तो भी माताजी से पूछता रहता—'आज क्या

व्याख्यान वचा, क्या वात आई ?'

मुझे वचपन से ही वीडी, सिगरेट, चिलम, तम्वाकू, भाग, गाजा, सुलफा, शराव आदि नशीली वस्तुओ का परित्याग था। मैंने पान तक कभी नही खाया।

वालक के लिए माता सच्ची शिक्षिका होती है। वच्चा मा के प्यार-दुलार और लालन-पालन का ही आभारी नही वनता, उसकी आदतो का भी असर लेता है। गर्भकाल से ही माता का रहन-सहन, खान-पान, चाल-चलन, वच्चे को प्रभावित करने लग जाते हैं। इसीलिए शरीर शास्त्रियो ने गर्भवती स्त्री को सात्त्विक आहार, सात्त्विक-विचार और सात्त्विक व्यवहार करने की वात वताई है और इसीलिए ये वेचारे शिक्षा-शास्त्री चीख पुकार करते हैं कि अशिक्षित माताए वच्चो के लिए अभिशाप हैं। उनके हाथो मे वच्चो के उज्ज्वल भविष्य का निर्माण नही हो सकता। यह सही है।

वदनाजी के आचार-विचार की आचार्यश्री के हृदय पर अमिट छाप पडी और उससे सस्कार उद्वुद्ध हुए, इसमे कोई शक नही। मध्य-कालीन भारतीय माताओ मे स्कूली पढाई की पद्धति नही रही। फिर भी वे परम्परागत रीति-रस्मो मे वडी निपुण होती थी। उनके सस्कारी हृदयो को हम अशिक्षित नही कह सकते। आचार्यश्री से कई वार यह सुना कि वदनाजी वालको की चिकित्सा अपने आप कर लेती।

भारतीय साहित्य मे सत्पुत्र वह माना गया है जो मा-वाप अथवा गुरु से प्राप्त सम्पत्ति को वढाये। यह वात हम आचार्यश्री के जीवन मे पाते हैं। वीज रूप मे मिले हुए सस्कारो को पल्लवित करने मे आपने कुछ उठा नही रखा। वचपन मे ही आपने अध्ययन, अध्यापन, अनुशासन, परोपकार और सचाई की पुष्ट परम्पराए पूर्ण विकसित कर ली। मैं इनके कुछ उदाहरण आचार्यश्री के शव्दो मे ही उपस्थित करूगा

"विद्याध्ययन मे मेरी रुचि सदा से रही। मैं जब ६-७ वर्ष का था, तब स्थानीय नन्दलालजी व्राह्मण की स्कूल मे पढने जाया करता। फिर कुछ दिनो वाद हीरालालजी वज जैन के यहा पढता था। तव मैंने हिन्दी, हिसाव आदि पढे। मैंने इगलिश की ए० वी० सी० डी० भी नही पढी। मुझे पाठ कण्ठस्थ करने का वडा शौक था। उस (पाठ) का स्मरण भी वहुधा करता रहता। मुझे याद है कि मैं खेलकूद मे भी वहुत कम जाया करता। जव कभी जाता तो खेलने के साथ-साथ पाठ का भी स्मरण करता रहता। पच्चीस वोल, चर्चाहित शिक्षा के पच्चीस वोल जाणपणा के पच्चीस वोल, नमस्कार मत्र, सामायिक, पचपद वदना आदि मुझे छुटपन से ही कण्ठस्थ थे।

जव मैं स्कूल मे पढता तव और लडको को भी पढाया करता। मेरे जिम्मे कई लडके लगे हुए थे। उनकी देख-रेख भी मैं करता। स्कूल मे जितने लडके पढते, उनके जो भी कोई अपराध हो लिखे जाते और शाम को मास्टरजी को दिखलाए जाते। यह काम भी मेरे जिम्मे कई दफा रहता था। स्कूल मे विक्रयार्थ जितनी पुस्तकें आती, उनका हिसाव (विक्रय मूल्य, सयोजन आदि) मेरे पास रहता। अनुशासन व अध्यापन ये दो कार्य वचपन से ही मेरे आदत रूप वन गये थे। इसी कारण तथा अन्य कई कारणो से भी मेरी पढाई में काफी कमी रही, अर्थात दस वर्ष मे जितनी पढाई होनी चाहिए थी नही हो पाई।

सचाई के प्रति मेरा सदा से अटूट विश्वास रहा है। मुझे याद है कि एक दिन मोहनलालजी की बहू (बडी भाभी) ने मुझसे कहा—"मोती! ये पैसे लो, बाजार मे जा, कुछ लोहे के कीले ला दो। नेमीचन्दजी कोठारी जो मेरे मामा होते थे, मैं उनकी दुकान पर गया उन्होंने पैसे बिना लिए ही मुझे कीले दे दिये। वापस आकर मैंने वे कीले भाभी को दे दिये और साथ-साथ पैसे भी दे दिये। यदि मैं चाहता तो पैसे को आसानी से अपने पास रख सकता था, फिर भी सचाई के नाते मैंने वे नही रखे।"

मनोविज्ञान बताता है कि पाच वर्ष की अवस्था से ही भावी जीवन का निर्माण होने लग जाता है। बालक की सहज रुचि अपने भविष्य की ओर सकेत करती है। आप जानते हैं कि निर्माण मे अडचनें भी कम नही आती। सन्धि वेला मे विकास और ह्रास का विचित्र सघर्ष होता है। अन्तिम विजय उसकी होती है जिसकी ओर बालक का कर्तृत्व अधिक झुकता है। आचार्यश्री के जिस बाल-जीवन की पाठको ने स्वर्णिम पक्तिया पढी, उसमें कुछ विषाद की रेखाए भी हैं, हर्ष ने विषाद पर विजय पा ली, यह दूसरी बात है, फिर भी इनका द्वन्द्व कम नही हुआ, प्रबल था।

सस्मरण की कुछ पक्तिया इस प्रकार हैं :

"मुझे बचपन मे गुस्सा बहुत आया करता था, जब मैं गुस्से मे हो जाता, फिर सबका आग्रह हो जाने पर भी एक-एक, दो-दो दिन तक भोजन नही करता।"

मैं प्रकृति का सीधा-सादा था, दाव पेचो को नही जानता था। मेरे एक कौटुम्बिक ने मुझसे कहा—"ओरण मे रामदेवजी का मन्दिर है (जहा तेरापथ के अधिष्ठाता भिक्षु स्वामी विराजे थे) वहा देवता बोलता है, पर उसको नारियल भेंट करना पडता है, अगर तुम अपने घर से ला सको तो। मैं एक नारियल चोरी दावे ले आया। हम मन्दिर मे गए। कोई व्यक्ति अन्दर छिपा हुआ था। वह बोला—हमने बाहर से सुना और सोचा—देव बोल रहा है। क्या बोला, पूरा याद नही। इसी जालसाजी के बाद मैंने कई नारियल चुराये और औरो को खिलाये।"

प्रसाद की अपेक्षा विषाद की मात्रा कम है। बहु मात्रा अल्प मात्रा को आत्मसात् कर लेती है, यही हुआ। दैवी सम्पदाओ के सामने आसुरी सघर्ष चल नहीं सका। गुस्से का स्थान अनुशासन ने, चोरी का स्थान आत्म-निरीक्षण ने ले लिया। सत् की सगति पा दोष भी गुण बन जाते हैं, ऐसा कहा जाता है। सम्भव है यही हुआ हो। खैर कुछ भी हो, आचार्यश्री के बाल-जीवन मे भी प्रौढता निखर उठी थी, उसमे कोई सदेह नही। बाल-जीवनोचित लीला-लहरियो मे गम्भीरता अपना स्थान किये हुए थी। सहज भाव से बालको की रुचि खेल-कूद मे अधिक होती है। पढने मे जी नही लगता परन्तु आचार्यश्री इसके अपवाद रहे हैं।

आज विद्यालयो मे पाठ कण्ठस्थ करने की प्रणाली नही के बराबर है। कई शिक्षाविशारद इसे अनावश्यक और विद्यार्थी भार समझते हैं। कुछ भी समझें, इस प्रणालि ने भारतीय ज्ञान-राशि को अक्षुण्ण रखने मे बडी मदद की है। लिखने के साधन कम थे, अथवा प्रथा नहीं थी। उस जमाने मे जैनो के विशाल आगम-साहित्य तथा वैदिको के वेद और उपनिषदो की सुरक्षा इसी से हुई है। धार्मिक क्षेत्र मे आज भी

इसका महत्त्व है। एक राजस्थानी कहावत है—"ज्ञान कण्ठा और दाम अण्टा।" आज के विद्यार्थी पुस्तकों के बिना एक पैर भी नहीं चल सकते, उसका इसकी उपेक्षा से कम सम्बन्ध नहीं है।

बालक चैतन्य की नवोदय भूमि होता है। उसमें शान्ति और क्रान्ति के मेल की जो अपूर्व लौ जलती है, वह बुझाये नहीं बुझती। बचपन को सीधा और सरल समझा जाता है, पर वह अन्तर्द्वन्द्व से मुक्त नहीं होता। एक ओर बड़ों की आज्ञा का पालन करने का प्रश्न आता है, दूसरी ओर अपनी भावाना की रक्षा का। वहां एक बड़ी टक्कर होती है। विनय नाम की चीज न हो तो उसका हल नहीं निकल सकता। आचार्यश्री को बचपन में मांगने का नाम बहुत बुरा लगता। एक जगह आप लिखते हैं—"पहले हमारे घर में गायें रहती थीं। किन्तु बाद में जब ऐसा नहीं था तब माताजी पड़ोसियों के घरों से छाछ मांग लाने को मुझसे कहतीं। मुझे बड़ी शर्म आती। आदेश पालन करना होता पर उससे मुझे दुःख होता।"

साधारणतया यह कोई खास बात नहीं है। पड़ोसियों में ऐसा सम्बन्ध होता है। फिर भी अपने श्रम पर निर्भर रहने का सिद्धान्त जिसे लगता है, उसे वैसा कार्य अच्छा नहीं लगता है। आचार्यश्री की स्वातंत्र्य वृत्ति और कार्य-पटुता का इससे मेल नहीं बैठता। आप ८-९ वर्ष की उम्र में चाहते थे कि मैं परदेश (बंगाल) जाऊं, बड़े भाईयों का सहयोगी बनूं।" एक बार मोहनलालजी परदेश को विदा हो रहे थे। तब आपने माताजी के द्वारा उनके साथ जाने की बहुत चेष्टा करवाई। पर वह सफल नहीं हो सकी। वे सागरमलजी (पांचवें भाई) को साथ ले जाना चाहते थे। आपने कहा—"मैं उनसे भी अच्छा काम करूंगा।" कारण कि आप सागरमलजी से अपने को अधिक होशियार समझते थे। प्रयास काफी हुआ किन्तु काम बना नहीं।

उक्त घटना एक बहुत बड़ी सामाजिक क्रान्ति का गुप्त बीज है। भारतीय सामाजिक जीवन में मांगना और श्रम का अभाव, ये दो शब्द घुसे हुए हैं। एक राष्ट्र में ६०-७० लाख भिखमंगों की फौज जो हो, वह उसका सिर नीचा करने वाली है, अगर मांगने में शर्म अनुभव होती हो, अपने श्रम पर भरोसा हो तो कोई कारण नहीं कि एक व्यक्ति गृहस्थी में रहकर भीख मांगे। आचार्यश्री ने बचपन में ही व्यापार क्षेत्र में जाना चाहा किन्तु वैसा हो नहीं सका या यों सही कि धर्मक्षेत्र की आवश्यकताओं ने आपको वहां जाने नहीं दिया। आप देश में रहकर विरक्त बन जाएंगे, साधु बनने की तैयारी कर लेंगे, यह मोहनलालजी को पता नहीं था, अन्यथा वे आपको वहां नहीं छोड़ जाते।

अकस्मात सिराजगंज (पूर्वी बंगाल) तार पहुंचा। लाडांजी (आपकी बहिन) की दीक्षा होने की सम्भावना है, जल्दी आओ। मोहनलालजी तार पढ़ तुरन्त लाडनूं चले आये। स्टेशन पर पहुंचे। उन्होंने सुना "तुलसी" दीक्षा लेगा। उन्होंने कहा—मुझे यह खबर होती, मैं नहीं आता। खैर घर पर आ गए। घर वालों तथा आपको भी बहुत कुछ कहा सुना। जो बात टलने की नहीं उसे कौन टाले।

इससे पूर्व आपके चौथे भाई श्री चम्पालालजी स्वामी दीक्षित हो चुके थे। आप तुरन्त दीक्षा पाने को तत्पर थे। मोहनलालजी आपको दीक्षा की स्वीकृति देने को तैयार

नही हुए।

तेरापथ की दीक्षा नियमावली के अनुसार अभिभावको की लिखित स्वीकृति के बिना दीक्षा नही हो सकती। यह एक समस्या बन गई। श्रावको ने, साधुओ ने, मत्रीमुनि मगनलालजी स्वामी ने भी श्री मोहनलालजी को समझाया। मोह की बात है। दिल नही माना। वे स्वीकृति देने को तैयार नही हुए। आपने देखा यह बात यो बनने की नही।

लाडनू की विशाल परिषद् मे श्री कालूगणी व्याख्यान कर रहे थे। आप वहा गए। व्याख्यान के बीच ही खडे होकर बोले—"गुरुदेव! मुझे आजीवन व्यापारार्थ परदेश जाने और विवाह करने का त्याग करवा दीजिये।" लोगो ने देखा—यह क्या! परम श्रद्धेय गुरुदेव ने देखा—बालक का कैसा साहस है। मोहनलालजी ने देखा—वह मेरा भय और सकोच कहा? विभिन्न प्रतिक्रियाए हुई। गुरुदेव ने कहा—"तू अभी बालक है, त्याग करना बहुत बडी बात है।" आपने देखा—गुरुदेव अब मौन किये हुए हैं। सभी की दृष्टि आप पर टकटकी लगाये हुए है। आश्चर्य और प्रश्न की धीमी आवाजें उठ रही हैं। साहस के बिना काम होगा नही। जो निश्चय कर लिया, वह कर लिया। डर की क्या बात है। उत्तम कार्य है। मुझे अब अपने आत्मबल का परिचय देना है। यह सोच आप बोले—"गुरुदेव! आपने मुझे त्याग नही करवाए, किन्तु मैं आपकी साक्षी से आजीवन व्यापारार्थ परदेश जाने और विवाह करने का त्याग करता हूँ।"

गुरुदेव ने सुना, लोगो ने सुना, मोहनलालजी ने भी सुना। बहुतो ने मोहनलालजी को समझाया था, नही समझे। आपने थोडे मे समस्या सुलझा दी। वे आपकी दीक्षा के लिए राजी हो गए। गुरुदेव से प्रार्थना की। दीक्षा की पूर्व स्वीकृति और आदेश दोनो लगभग साथ-साथ हो गए। यह एक विशेष बात है। गुरुदेव से इतना शीघ्र दीक्षा का आदेश मिलना एक साधारण बात नही है। आपको वह मिला, इसका कारण आपकी असाधारण योग्यता के सिवाय और क्या हो सकता है? इसमे कोई सदेह नही, श्री कालूगणी ने उसी समय आपकी छिपी हुई महानता का अनुभव कर लिया था। आपके ज्ञाति भी इससे अपिरिचित नही थे। हमीरमलजी कोठारी, जो आपके मामा होते हैं, आपसे बडा प्यार करते। वे आपको तुलसीदासजी कहकर सम्बोधित करते। और कहते—"हमारे तुलसीदासजी बडे नामी होगे।"

प्रकाश प्रकाश मे से नही निकलता, वह आवरण मे से निकलता है। आवरण केवल ढाकना नही जानता, हटना भी जानता है, वह अन्धो को ही दृष्टि नही देता, दृष्टि वालो को भी दृष्टि देता है।

आपका विशाल व्यक्तित्व बचपन के आवरण मे छिपा हुआ था। फिर भी कृतज्ञता के साथ हमे कहना चाहिए कि उनने आपको पहचानने की दृष्टि दी।

कसौटी

मोहनलालजी स्वभावत कुछ विनोद प्रिय हैं। दीक्षा की पूर्व रात्रि मे वे आपके

पास आये और मीठी मुस्कान मे बोले—"लो यह लो।" आपने कहा—"क्या देते हैं भाईजी !" उन्होंने कहा—"देखो यह सौ रुपये का नोट है। कल तुम दीक्षा लोगे। इसे साथ लिये जाना। साधु-जीवन बडा कठोर है। कही रोटी-पानी न मिले तो इससे काम ले लेना।" मोहनलालजी के इस विनोदपूर्ण व्यग से वातावरण हँसी से महक उठा। आपने हसते हुए कहा—"भाईजी ! यह क्या कह रहे हैं ? इनका साधु-जीवन से क्या मेल ? आप जानते हैं—साधु को यह रखना नहीं कल्पता। भाई-भाई के हास्यपूर्ण सवाद से आस-पास मे सोने वाले जाग उठे। आपकी वहिन लाडाजी नेपूछा—"क्या वात है ? इतनी हँसी किस वात की ?" "तुलसी की परीक्षा हो रही है"—मोहनलालजी ने कहा।

o

परिशिष्ट

ग्रन्थों की सूची

अणुव्रत (पत्र)
अभिधान राजेन्द्र
अमर सन्देश
अशात विश्व को शान्ति का सन्देश
आचाराग
आत्मानुशासन
उत्तराध्ययन
कालू यशोविलास
जैन भारती (पत्र)
जैन सिद्धान्त दीपिका
जैनागम शब्द सग्रह
दशवैकालिक
धम्मपद
निरयावलिका बहु पुत्तिया
पथ और पाथेय
प्रबुद्ध जीवन (पत्र)
पाइय सद्द महाण्णव
शाति के पथ पर
श्रीभिक्षुन्यायकर्णिका
हरिजन (पत्र)
हरिजन सेवक (पत्र)
सुवर्ण भूमि मे कालकाचार्य

गांवों के नाम

अजन्ता
अजमेर
अमरीका
आबू
इंग्लैण्ड
इन्दौर
इसरी (पारसनाथ)
उज्जैन
एल्लोरी की गुफा
औरगाबाद
औरण
कलकत्ता
कलाम
काणाना (मारवाड़)
काहटूल
कुमहा
कोठली
खानदेश
गगापुर
गिरनार
गोवा
छापुर

जयपुर
जलगाव
जापान
जालना
जोरवावाद
जोधपुर
जोरावर
टोकर खेडा
डेनार्क
डोडायचा
डूंगरगढ
दमागम की ढाणी
दिल्ली
देवघर
देवान
धुलिया
नानउनहर
नारायण गाव
नार्वे
नालदा
निमगुल
न्यूयार्क
पाडोचेरी
पाकिस्तान
पीपल
पूना
पेनसिल वेनिया विश्वविद्यालय
प्रयाग
फतेपुर
फ्रास
फागण
बम्बई
बडावनी
बडोरावनिया

बडौदा
बनारस
बाकानेर
बाढमेर
बालापुर
बीदासर
बीकानेर
बैंगलोर
बोधगया
बोराला
भिवानी
भीनासर
मचर
मदसोर
मथुरा
महाराष्ट्र
महुर
मलेरकोटरा
माइयॉन
मागुरणा
मानपुर की घाटी
मुकावल
मुलुण्ड
मेवाड
रतनगढ
राणकपुर
राजगृह
राहुते
रूस
लुधियाना (गवर्नमेंट कॉलेज)
ब्रिटेन
ब्यावर
शत्रुंजय
सगमनेर

व्यक्तियों के नाम

दुलीचन्दजी स्वामी
देवेन्द्र कर्णावट
धनराजजी स्वामी
धर्मचन्दजी स्वामी
नगराजजी स्वामी (बड़ा)
नगराजजी „ (छोटा)
नथमलजी स्वामी (बागोर)
नथमलजी (सत) गडवोर
नेल्ड (डॉ०)—केनैडियन पादरी
नेल्ड (श्रीमती)
नोरमल ब्राउन (डा० डब्ल्यू)—साउथ एशिया, हिन्दुस्तान, पाकिस्तान, अफगानिस्तान, नैपाल, लका स्टडीज के अध्यक्ष।
परमान्दजी कापडिया
पुण्यविजयजी (सत)
प्रफुल्लचद सेन
प्रभुदयाल डाबडीवाल
प्रभुदयाल, हिम्मतसिंह
वक्स्टर—वाईविल का विश्व विख्यात विद्वान्।
वदनाजी (साध्वी)
वर्टन
वालचद सुराणा
ब्राहमन
विनोवा भावे
वुडलैंड व्हेलर—शाकाहारी मडल के उपाध्यक्ष तथा यूनेस्को के प्रतिनिधि
वेकनवान—क्लम्ववर्ग (इसाई धर्म का विद्वान अमेरीका)
वेलस
भवरमलजी सिंघी
भवरलालजी दूगड
भगवानदीन
भागीरथ कानोडिया
भिक्षु स्वामी (तेरापथ के आद्य प्रवर्तक)
मगलदास, गोरधन दास
मगलदास पक्वासा
मगनमलजी स्वामी (मत्री मुनि)
मघवागणी
मदनचद गोठी
महात्मा गाधी
महेन्द्रकुमारजी स्वामी
मागीलालजी 'मधुकर' (स्वामी)
मिश्रीमलजी वैद्य
मेलिसेंट सेकेल—स्वास्थ्य सघ की प्रधान सगठन कर्त्री
मोहनलालजी (सत)
मोहनलालजी खटेड
मोहनसिंह
मोरारजी देसाई
रगलालजी (सत)
रतनलालजी (सत)
रवीन्द्रनाथ टैगोर
राकेशकुमारजी स्वामी
राजमलजी स्वामी
राजेन्द्रप्रसाद (राष्ट्रपति)
राधाकृष्णन् (उपराष्ट्रपति)
रामचन्द्र कासलीवाल
राममनोहर लोहिया
रामाराव
रेमड एफ० पीपर
ललिताप्रसाद
लुहरेण्यु—पेरिस विश्वविद्यालय के संस्कृत प्राध्यापक
वनर्जी वी० के०
वसन्तीलालजी (सत)
विजयशकर

Jain ... Accn No 45 LADNUN

विजयसिंह नाहर
विलियम एल० एफ०—नेशनल चर्च के अध्यक्ष
शतकोडी मुखर्जी
शिवनारायण
शिवाजी भावे
शोभालाल
श्रीचदजी रामपुरिया
श्रीचदजी 'कमल' स्वामी
—रामकिशन वम्बई के अध्यक्ष
सेडोलफस्टीनर—स्वीटजरलैंड दार्शनिक
सत्यदेव विद्यालकार
सीताराय मेक्सरिय
सुखलालजी स्वामी (गोगुन्दा)
सुखलालजी स्वामी (सुजानगढ)
सुगनचन्दजी आचलिया
सुगनचन्द्रजी—विधायक उत्तरप्रदेश विधान सभा

सुचेता कृपलानी
सुजानसिंह
सुनीतिकुमार चटर्जी
सुमेरमलजी 'सुदर्शन' स्वामी
सुलोचना मोदी
सूर्यकान्त—एम० ए०, डी० लिट्० टिफिल
सोहनलालजी स्वामी
सौभाग्यमल श्रीमाल—सम्पादक लोकवाणी
स्नेश (पी० डब्ल्यू०)—भारत के सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश
हम कोइस्टर—भारत स्थित जर्मन दूतावास मे कोन्सल जनरल
हगामीमल (सत)
हणूतमल सुराणा
हमीरमल कोठारी
हीरालाल शास्त्री
हीरालालजी (सत)

आचार्यश्री के चातुर्मासों की सूची

१९९३ गगापुर
१९९४ बीकानेर
१९९५ सरदारशहर
१९९६ बीदासर
१९९७ लाडनू
१९९८ राजलदेसर
१९९९ चूरू
२००० गगाशहर
२००१ सुजानगढ
२००२ डूंगरगढ
२००३ राजगढ
२००४ रतनगढ
२००५ छापर
२००६ जयपुर
२००७ हासी
२००८ दिल्ली
२००९ सरदारशहर
२०१० जोधपुर
२०११ बम्बई
२०१२ उज्जैन
२०१३ सरदारशहर
२०१४ सुजानगढ
२०१५ कानपुर
२०१६ कलकत्ता
२०१७ राजनगर
२०१८ बीदासर